वीर सेवा मन्दिर सस्ती ग्रन्थमाला का पंचम पुष्प

सुखकी झलक

(पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी के
महत्वपूर्ण प्रवचनोंका संग्रह)

संकलन कर्ता—

कपूरचन्द जैन बरैया बी० ए०

लश्कर

प्रकाशक—

वीर सेवा मन्दिर

७/३३ दरयागंज, देहली।

द्वितीयवार ५०००	वीर नि० सं० २४७६ वि० सं० २००७	मूल्य लागत मात्र बारह आना
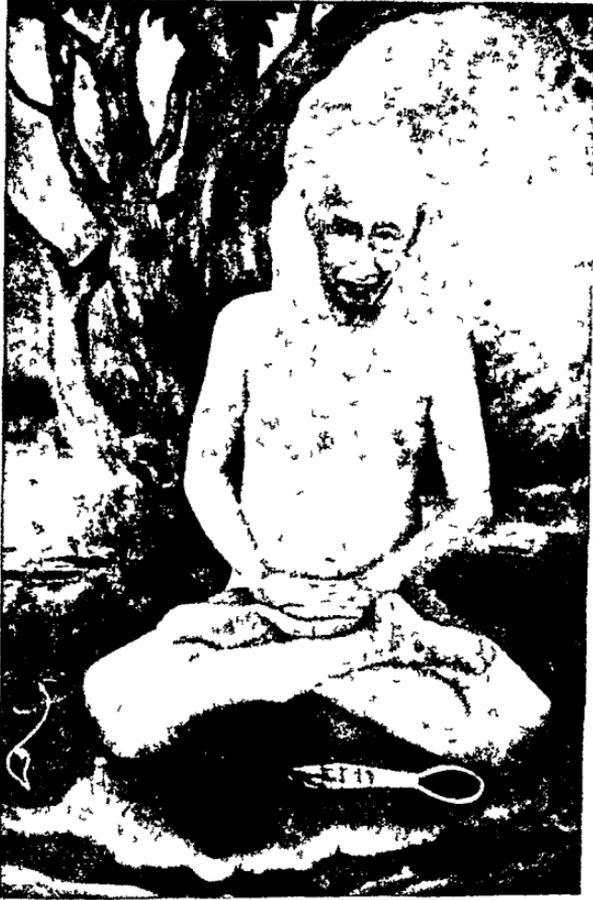
प्रवक्ता भारतके अहिसक सन्त

श्रीमान् १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी

प्रस्तावना

प्रवक्ता पूज्य वर्णीजी और उनके प्रवचन

भारत सदासे आध्यात्मिक विद्याका केन्द्र रहा है। उसमें मुमुक्षु आध्यात्मिक योगियोंने अपनी आत्म-भावना और उग्रत-पश्चर्याके अनुष्ठान द्वारा अध्यात्म विद्याके चरम विकासको पाकर जगतका भारी कल्याण किया है। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने वस्तुतत्त्वकी यथार्थताको दिखाया और स्वयं उस आदर्शमार्गके पथिक अथवा नमूना बनकर आत्मविकासके अनुपम आनन्दको प्राप्त किया है। साथ ही, जगत को उसका सरल एवं सत्यमार्ग भी प्रदर्शित किया है। पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रशादजी वर्णी न्यायाचार्य उन्हीं आध्यात्मिक योगियों और अहिंसक सन्तोंमें से एक हैं। जिनकी छत्र छायामें रहकर अनेक मानवोंने अपने जीवन का उत्थान किया है। वर्णीजी केवल तत्त्वज्ञानी और अध्यात्म-विद्याके रसिक ही नहीं हैं; किन्तु तपस्वी होनेके साथ-साथ बड़े ही अहिंसक और वस्तुतत्त्वके यथार्थ उपदेष्टा भी हैं। आपमें राष्ट्रीयता है और देश व धर्मसे प्रेम है, तथा सबसे महान् वस्तु है जगतके कल्याणकी निरीह भावना आपकी दयालुता अथवा करुणा वृत्ति तो लोक-प्रसिद्ध है, आपने आजाद हिन्द फौजके फौजियोंकी रक्षार्थ अपनी चादर भी दे दी थी और उनकी रक्षाके सम्बन्धमें आपने जो उद्गार व्यक्त किये

थे वे आप की महानता के सूचक हैं। आप दीन दुखियोंके दुख-मोचन करनेके लिए अपनी शक्तिभर प्रयत्न करते रहते हैं आपका मानस लोककल्याणकी पवित्र भावनाओंसे ओत-प्रोत है आपकी ऐतिहासिक पैदलयात्राका उद्देश्य भी यही है। यद्यपि वृद्धावस्था और शारीरिक कमजोरी होनेके कारण इतनी बड़ी पैदल यात्रा करना और गर्मी सर्दी तथा वर्षातकी कठिनाइयों एवं विघ्नबाधाओं को सहना आसान काम नहीं है, किन्तु आत्मबल त्यागवृत्ति और निरीह लोककल्याणकी भावनाने आपमें अपूर्व बलका संचार किया था और आन्तरिक प्रेरणावश मई जून की उन तेज लुओंमें और वर्षा तथा शीतादिकी असह्य बाधाओंको सहते हुए लोक-हृदयोंमें आत्मकल्याणकी भावना जागृत करते, तथा अहिंसा और सत्यका यथार्थ प्रचार करते हुए आत्मसाधनामें निरत रहते हैं। आपकी यह पैदल यात्रा बिहारसे सी० पी० और सी. पी. से जगाधरी (अम्बाला) तक तथा देहली और देहली से विहार करते हुए अभीआप इटावामें विराजमान हैं। शीतकी असह्य बाधाएं सहते हुए आपका स्वास्थ्य खराब हो गया था, पैरोंमें सूजन आगई थी, बुखारकी तेज़ीने ज़ोर पकड़ लिया था, उस अवस्थामें भी पूज्य वर्णीजी वीतरागी थे और समयसारका नियमित समयपर प्रवचन करते थे। आप मानव-स्वभावके पारखी हैं। आपकी इस यात्रामें अनेक मुमुक्षु जीवोंने आत्म-साधना का व्रत लिया है और अनेकों के आचार-विचरोंमें परिवर्धन, परिवर्तन और परिमार्जन हुआ

है तथा कितनोंको तत्वज्ञानके अभ्यासकी प्रेरणा मिली है।

आपका जीवन बड़ा ही शान्त है और शरीरकी आकृति सौम्य तथा स्वभावतः भद्र है। प्रकृति सुकोमल, निर्मल उदार और दयालुतासे आर्द्र है। वीतरागपरिणति, समीचीन दृष्टि और उदात्त भावना ये आपके लोकोत्तम जीवनके सहचर हैं। संसारके सभी प्राणियोंसे आपका निर्मम मैत्रीभाव है। यहां तक कि विपक्षियों-विपरीतवृत्ति वालों-पर भी आपका माध्यस्थ्य भाव रहता है उनसे आपका न राग है और न द्वेष है।

आपके जीवनकी दूसरी विशेषता यह है कि आप कभी किसी व्यक्तिकी निन्दा नहीं करते और न उसके अवगुणोंका प्रकाश अथवा प्रचार ही करते हैं। आपको इस प्रकारकी समालोचना भी इष्ट नहीं है, जो परोक्षमें दूसरोंके केवल दोषोंका उद्भावन करती हो। यदि कोई उन्हें जबरन सुनाने लगता है तो उस ओरसे आप अपना उपयोग हटा लेते हैं। अथवा उसे ऐसा न करनेका संकेत कर देते हैं। आप अपनी प्रशंसासे तो बहुत दूर रहते ही हैं। आपका व्यक्तित्व महान है और प्रज्ञा विवेकशालिनी हैं। आपकी पदार्थ विवेचना गम्भीर, मधुर, पर सरल मृदुल भाषा में होती है और वह वस्तुत्वकी यथार्थ निदर्शक होती है।

आपने अनेक शिक्षा संस्थाओंका निर्माण तथा भारतीय श्रमण संस्कृतिके प्रकाशक ग्रन्थोंके पठन-पाठनकी परम्पराका प्रचार किया है जिसके फल स्वरूप अनेक प्रतिष्ठित विद्वान आज जैन श्रमण संस्कृतिके प्रचार व प्रसारमें लगे हुए हैं। पूज्य वर्णी जी

ने जगतका और खास कर जैनसमाजका जो उपकार किया है वह इतिहासमे सुवर्णाक्षरोंमे अंकित रहेगा। और समाज चिर-काल तक आपका ऋणी रहेगा।

आपने अपना जीवन परिचय 'जीवनगाथा' नामकी पुस्तकमें स्वयं ही लिखा है जो बहुतही महत्वपूर्ण और अनेक ऐतिहासिक जीवन-घटनाओंसे ओत-प्रोत है। उससे आप यह सहज ही जान सकेंगे कि उजियारी मा के लालने आदर्श बन जगत मे कैसा उजेला किया है।

प्रस्तुत पुस्तक आपके मुरार (ग्वालियर) मे हुए गत चातुर्मास का प्रतिफल है—इसमें दिये हुए आपके महत्वपूर्ण कुछ प्रवचनोंका सकलन बा० कपूरचन्दजी बी०ए० बरैया लश्करने किया था, यदि सारेचतुर्मासके पूरे प्रवचनोंका संग्रह किया जाता तो एकबड़ा ग्रन्थ बन जाता पर ऐसा कोई कार्य आज तक नहीं किया जा सका पूज्य वर्णीजीके महत्वपूर्ण प्रवचनोंका सग्रह अवश्य होता रहना चाहिये और उसे उन्हीं के शब्दों मे प्रकाशित होना चाहिये।

भाई कपूरचन्द जी बी०ए० ग्वालियर ने पूज्य वर्णीजीके प्रवचनोंकी महत्तासे प्रेरित होकर उनका कुछ संकलन किया और उन्हे अपनी भाषामें लिखा था। यद्यपि लिखते समय उन्होंने पूज्य वर्णीजीके भावोंको तथा बुन्देलखण्डके 'भैया' आदि मधुर शब्दों को ज्योंका त्यों रहने देनेका यथाशक्य प्रयत्न भी किया था, परन्तु वे इसमें कितने सफल हुए यह कहना कठिन है। बादमे उन्होंने अपनी ओरसे पुस्तकाकार प्रकाशित भी किया, परन्तु

उसमें प्रेस एवं प्रूफ सम्बन्धी अनेक महत्वकी अशुद्धियां ऐसी अधिक रहगई थीं कि उनका परिमार्जन हुए विना उससे यथेष्ट लाभ होनेकी संभावना न थी इसीसे उसका मैंने संशोधन सम्पादन कर तथा नये शीर्षकादिसे अलकृत कर श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक चिदानन्दजीकी अनुमतिसे वीर सेवामन्दिर सस्ती ग्रन्थमालासे उसे प्रकाशित किया है। यह उसका द्वितीय संस्करण है।

पूज्यवर्णीजीके प्रवचन कितने उपयोगी और मानवजीवनके हितसाधक हैं। इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं। वे आपके ७६ वर्ष के अनुभवपूर्ण तपस्वी जीवन, आत्मचिन्तन और गम्भीर पांडित्यके निदर्शक तो हैं ही, किन्तु साथमें अपनी वीतराग परिणति, तत्त्व मीमांसा और वस्तुतत्वके प्रतिपादक हैं। इनका मनन करनेसे मानव अपनी दानवताका परित्याग कर आत्महित मे निरत ही नहीं किन्तु वह अनन्त संसारके पाशको छेदने मे भी समर्थ हो जाता है। इससे पाठक इनकी महत्ताका अनुमान कर सकते हैं।

अन्तमे मैं पूज्यवर्णीजीके दीर्घ जीवनकी कामना करता हुआ उनके चरणोंमे अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पण करता हुआ बा० कपूरचदजी बी० ए० का भी आभारी हूं जिन्होंने इसके प्रकाशनकी सहर्ष अनुमति प्रदान की। इस द्वितीय संस्करण का प्रूफरीडिंग मुद्रक ने किया है।

परमानन्द जैन

विषय-सूची

विषय--	पृष्ठ
१ जीवनकी शुभ अशुभ प्रवृत्तियां	१
२ मोहकी महत्ता	५
३ सम्यग्दृष्टि और उसकी प्रवृत्ति	९
४ ज्ञानकी स्वच्छता	२०
५ इन्द्रिय विषयोंकी प्रभुता	२३
६ शुद्ध चेतनाके अवलम्बन	२६
७ सम्यग्दृष्टिका आत्मपरिणाम	५०
८ भेदज्ञानकी महिमा	५६
९ अध्यवसान भाव ही बंध का कारण है	७८
१० आत्माका ज्ञानस्वभाव	८०
११ आत्माका आवृत स्वरूप	९२
१२ आत्म-भावना	११३
१३ सच्चा पुरुषार्थ	१२१
१४ परिग्रह ही दुःखका कारण है	१३१
१५ वन्धका स्वरूप	१३५
१६ त्यागका वास्तविक रूप	१५१
१७ अहिंसातत्व	१६०
१८ मानव धर्म	१६५
१९ कर्तव्य	१६८
२० सदाचार	१६९
२१ शान्ति	१७०
२२ कल्याणका मार्ग	१७७
२३ स्वाध्याय	१८२
२४ ब्रह्मचर्य	१८८

सुखकी झलकका शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१३	पढते	पढ़ते
"	२१	लोक	लोकः
३	२	ध्रवम	ध्रुवम्
४	१	परमात्म	परमात्मा
"	४	भनवान्	भगवान्
५	६	चुकते हैं	प्रवेश करते हैं
६	२	जला	जली
६	११	लगया	ले गया
७	५	विवाइ	विवाह
"	१५	शिरोधाय	शिरोधार्य
"	२१	औौर	ओर
११	२०	चरित्र	चारित्र
१२	८	ममान	समान
१४	७	वरागी	वैरागी
१५	८	वह्	वह
१७	१५	मदन	मर्दन
१८	४	एड़ो	पड़ो
२१	३	ऊष्ण	उष्ण
२३	२०	विद्वांस	विद्वांस
२८	७	दापवादे	दोषवादे
२९	१	प्रवतता	प्रवर्तता
२९	२०	सम्यगदष्टि	सम्यग्दृष्टि
३१	१७	मेरी	मेरे
३२	५	शुभोपयोप	शुभोपयोग
३४	३	सम्यग्त्वी	सम्यक्त्वी
३५	१६	मर्छा	मूर्च्छा
३७	१०	कन्टोल	कन्ट्रोल
३८	४	इछचओं	इच्छाओं
३८	६	त्यागीमें	त्यागमें
३९	२०	गृहस्थो	गृहस्थी
४१	१	चरित्रा०	चारित्रा०
४१	६	आत्मान-त्मेवात्मनो	आत्मानमेवात्मनो
४४	१५	सम्यदृष्टि	सम्यग्दृष्टि
४६	६	वजन-	वर्जन-
४९	११	परीवह	परीषह
४९	१६	हुए	हुए
"	१९	लड्ड	लड्डू
५१	१९	सपार्श्वः	सुपार्श्वः
५३	१७	दिथा	दिया
५६	२१	लिया	दिया
५८	१२	स्वरूपस	स्वरूपसे
५९	३	मूर्छा	मूर्च्छा
६१	१	व्यीप्त	व्याप्त
६१	७	विलक्षण	विलक्षण
६१	११	शत्र	शत्रु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६४	६	युद्ध	युद्ध
६४	१३	पणिति	परिणति
७०	१५	पयार्थ	पदार्थ
७४	१२	निमल	निर्मल
७५	६	अनादिस	अनादिमे
७६	१५	चाहत	चाहते
७६	१६	लकर	लेकर
७७	१०	खादानमे	खदानमें
७८	१५	उपादय	उपादेय
७७	२१	मर्छा	मूर्च्छा
८१	१३	यत्त	यत्त
८२	६	एसलिए	इसलिए
८३	२०	चरित्रा	चारित्र
८७	१०	निर्घन	निर्धन
८७	१६	दपार्थ	पदार्थ
८८	८	रुचि	रुच
६१	२०	ऊद्लकों	ऊदलकी
६८	१४	यस्त्वान	यस्त्वात्मान
१००	२१	जाथगा	जायगा
१०३	१८	त्रितान	वितान
१०४	२	मिमित्त	निमित्त
१०६	१५	अद्भुद	अद्भुत
१०७	५	परिमाणु	परमाणु
"	६	मिथ्यात्वादि	मिथ्यात्वादि
१०६	३	पत्र	पात्र
११०	४	ज्ञान वड़ा	ज्ञान वड़ा
११३	६	रत्नत्रयात्मक	रत्नत्रयात्मक
११८	१४	लपक	लपक
१२४	१६	रागान्न	रागान्नः
१३१	११	अथात्	अर्थात
१३५	१६	ओई	कोइ
१३७	८	आत्मा-कल्याण	आत्म कल्याण
१४०	१६	नंने	त्तगे
१४२	१७	ल नहीं	लक्ष्य नहीं
१४८	१०	वचनी	वचन
१५०	१८	पुर्ण	पूर्ण
१६१	१	तातय	तात्पर्य
१६३	२०	अनिवचनीय	अनिर्वचनीय
१६६	८	जीवन के	जीवन से
१७३	२०	दु:ग्वयायी	दु.खदायी
१७४	१२	अशान्त	अशान्त
१८३	८	मोक्षसार्ग	मोक्षमार्ग
१८५	८	चचा	चर्चा
१६१	२६	एरस्पर	परस्पर

तथा पृष्ठ १८१ के अन्त में 'है कि हम आत्मा को जान सकते हैं परन्तु वाह्याडम्बरों में फंसने के कारण उसे हम भूले हुए हैं।' इतना और पढ़ें।

श्री वीतरागाय नमः

सुखकी झलक

[पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी
न्यायाचार्यके प्रवचनोंका संकलन]

मंगलमय मंगल करन, वीतराग विज्ञान।
नमों ताहि जातै भये, अरहन्तादि महान ॥

—❀—
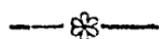
जीवकी शुभ-अशुभ प्रवृत्तियां

संसारमे मनुष्योंकी वर्तमान अवस्थाएँ शुभ और अशुभ इन दो विकृति भावोंमे परिणमन कर रही है। कभी यह प्राणी शुभरूप प्रवर्तन करने लग जाता है और कभी अशुभरूप। प्राय. यह लोगो को विदित ही है कि शुभकार्य करने से पुण्य और अशुभ से पाप होता है। अशुभके उदयसे तो भोग सामग्री मिलती ही नहीं, जिससे आकुलित रहता है और कदाचित् पुण्योदयसे प्राप्तभी हुई तो उसके भोगने मे आकुलित रहता है। आकुलता दोनों मे है। इसको दृष्टान्त पूवक यों समझना चाहिए कि एक शूद्रके दो लड़के हैं एक ब्राह्मणके यहां पला तो कहता है कि 'अहं ब्राह्मणोऽस्मि' मैं ब्राह्मण हूं और दूसरा शूद्रके यहां पला तो वह अपने को शूद्र समझने लगा और इस प्रकार मदिरा मांसका सेवन करने लगा। तो देखो एक ब्राह्मण है और दूसरा शूद्र। यदि दोनोंकी उत्पत्तिका विचार किया जाय तो वे शूद्र के

ही है। इसी तरह शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों अशु है। शुभोपयोग से स्वर्गादिक और अशुभोपयोगसे नरकादिक प्राप्त होता है। परन्तु है दोनों संसारके कारण, एक स्वर्गकी बेड़ी है तो दूसरी लोहेकी बेड़ी। दोनों हैं बेड़ी ही। परन्तु इन दोनोंसे भिन्न एक तीसरी वस्तु और है और वह है शुद्धोपयोग जिसके अन्दर न तो शुभ और अशुभ ।। विकल्प हैं और न किसी प्रकारकी आकुलता। वह तो एक निर्विकल्प भाव है। सम्यग्दृष्टि यद्यपि शुभोपयोग करता है पूजा दानादिमें प्रवृत्ति करता है परन्तु अन्तरंगसे वह इनकी भी चाहना नहीं करता। जैसे किसी मनुष्यको १०००) रु० का दण्ड हुआ, परन्तु उसने अपनी चतुराईसे १००) रु० घूस देकर ९००) रु० बचा लिए। उसे अपार खुशी होनेकी बात ही थी, पर पूछो तो वह अन्तरंगसे यही चाहता था कि ये १००) रु० भी नहीं देने पड़ते, तो अच्छा था। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि समझता है कि यहमैं अशुभोपयोगसे बचा तो अच्छा हुआ, पर जो शुभोपयोगरूप क्रिया कर रहा हूँ यदि वह भी नहीं करनी पड़ती तो ही अच्छा था। मुझसे यदि पूछा जाय तो सम्यग्दृष्टिको करना पड़ता है पर करना नहीं चाहता। यहां तक कि वह भगवानसे भी स्नेह अन्तरङ्गसे नहीं करता। स्नेहको ही बंधनका कारण मानता है। यही श्रीसमयसारमें कहा है—

लोक कर्म ततोऽस्तु सोस्तु च परिस्पंन्दात्मक कर्म तत्।

तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ॥
रागादीनुपयोगभूमिमनयञ्ज्ञानं भवेत् केवलम् ।
बन्धंनैव, कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम् ॥

स्नेह तो भगवानसे भी अच्छा नहीं। जहाँ चिक्कणता होगी वहीं तो धूल कण इत्यादि जमेंगे। देखो स्नेहसे ही तिल्ली, जिसमें तेल रहता है, घानीमें पेला जाता है, बालूको कोई भी नहीं पेलता। कृतांतवक्र जो महाराज रामचन्द्रके सेनापति थे वे जब संसारसे विरक्त हुए तो राम कहने लगे देखो तुम बड़े सुकुमार हो। आज तक तुमने किसीका तिरस्कार नहीं सहा। यह दिगम्बरी दीक्षा कैसे सहन करोगे? इसी समय कृतान्तवक्र कहते हैं कि हे राजा राम! तुमने कहा सो ठीक है। मुझे तुमसे बड़ा जबरदस्त स्नेह था। यही मेरे लिए सबसे बड़ी परीषह थी। सो जब मैंने तुमसे स्नेह तोड़ दिया, तो यह दिगम्बरी दीक्षा कौन सी बड़ी बात है? स्नेह से ही मनुष्य बन्धन मे पड़ता है। परमार्थदृष्टिसे तो भगवान् में भी स्नेह बन्धनका कारण है, मनुष्य नाना प्रकारकी कामनाओंकी भगवान्से याचना करता है यह कितनी बड़ी भूल है। जो भगवान् उपेक्षक-रागद्वेषसे रहित-स्वात्मामें मग्न है, उससे जो संसार सम्बन्धी भोग चाहता है तो मैं कहूँगा कि उसने भगवान् के स्वरूपको ही नहीं पहचाना। जो अर्हत देव वीतराग हैं उनसे जो रागकी इच्छा करता है तो उसने सच्चे लगनसे भक्ति ही

नहीं की। वह परमात्म जो मोक्ष का दाता है उससे स्वर्गादिक विभूतिकी इच्छा करना, यह बात तो भइया, हमारी समझ नहीं आती॥ वह तो ऐसा हुआ जैसे करोडपति से १०० रु० की चाह करना। धनजयने भगवान्‌की नाना प्रकारसे स्तुति की। अन्तमें यही कहा कि प्रभु मैं आपसे कुछ नहीं चाहता। निम्नलिखित श्लोकमे धनजय कविने कैसा गम्भीर भाव भर दिया है:—

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद् वरं न याचे त्वमुपेक्षकोसि
छाया तरुं सश्रयत: स्वत: स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभ ।

मैं तो यही कहूगा कि देवाधिदेव अरहन्तदेवसे तो संसार सम्बन्धी किसी भी प्रकारकी इच्छा करना ऐसा ही है जैसा वृक्ष के तले बैठकर वृक्षसे छायाकी याचना करना। भगवानके स्वरूपको समझनेका प्रयत्न करो। वह शान्तिमुद्रा-युक्त, ससार से विरक्त हितैषी, परमवीतराग और मोक्षलक्ष्मीके भर्त्ता है, उनसे किसी भो प्रकारकी कामना मत करो। वह तो यह बतलाते है कि देखो जैसे हमने दीक्षा धारण करके मुक्ति प्राप्त की वैसा ही तुम भी दीक्षा धारण कर मुक्तिके पात्र बनो।

लोकमें देखो दीपकसे दीपक जोया जाता है। बड़े महर्षियों की उक्ति है कि पहले तो यह जीव मोहके मंद-उदयमे 'दासोऽहं' रूपसे उपासना करता है, पश्चात् जब कुछ अभ्यासकी प्रबलता से मोह कृश हो जाता है, तब 'सोऽहं', सोऽहं' रूपसे उपासना करने लग जाता है। अन्तमें जब उपासना करते करते शुद्ध ध्यान

की ओर लक्ष्य देता है तब यह सर्व उपद्रवों से पार हो स्वयं परमात्मा हो जाता है। अत. भक्तिका तो सच्चा महत्व यही है कि आत्माको परमात्मा बनाओ।

मोहकी महत्ता

मनुष्यका मोह बड़ा प्रबल होता है। यह सारा ससार मोह का ठाठ है। यदि मोह न होय तो आया करो आस्रव, वह कभी भी बधनको प्राप्त नहीं होता। जिनेन्द्र भगवान् जब १३ वे गुण-स्थान (सयोगकेवली) मे चारों घातिया कर्मोंका नाश कर चुकते है तब वहां योग रह जाते हैं योगोंसे आस्रव आते हैं परन्तु मोहनीयकर्मका अभाव होने से कभी भी बंधते नहीं, क्योंकि आस्रवोंको आश्रय देने वाला जो मोह कर्म था उसका वे भगवान् सर्वथा नाश कर चुके। अरे, यदि गारा नहीं, तो ईंटे चुनते चले जाओ, कभी भो स्थिरताको प्राप्त नहीं होंगा। इसको दृष्टान्तपूर्वक यों समझना चाहिए कि जैसे कीचड़ मिश्रित पानी है, उसमे कतक फल डाल दिया तो गंदला पानी नीचे बैठ गया और ऊपर स्वच्छ जल हो गया। उसे निताराकर भाजनान्तर अर्थात् स्फटिकमणिके वर्तनमे रखनेसे गदलापन तो नहीं होगा, किन्तु उसमे जो कम्पन होगा अर्थात् जो लहरें उठेगी बह शुद्ध ही तो होंगो, सो योग हुआ करो। योग-शक्ति उतनी घातक नहीं, वह केवल परिस्पन्द करती है। यदि मोहकी कलुषता चली जाय, तब वह स्वच्छतामे उपद्रव नहीं कर सकती, और उस बधको जिसमे स्थिति और अनुभाग होता है नहीं कर सकती, इसलिए अबन्ध है। और वस्तु स्थिति

भी ऐसी ही है कि जिस समय आत्माके अन्तरंगमे मोह-रूप पिशाच निकल जाता है, तो और शेष अघातिया कर्म जली जेवरावत् रह जाते हैं। तो इससे सिद्ध हुआ कि इन सब कर्मों मे जबरदस्त कर्म मोहनीय हो है। यही कर्म मनुष्यको नाना प्रकारके नाच नचाता है। एक कोरी था। वह मदिरा मे मस्त हुआ कहीं चला जा रहा था। उधर से हाथीपर बैठा हुआ राजा आ रहा था। कोरीने कहा 'अबे, हाथी बेचता है।' राजा बड़ा क्रोधित हुआ और मंत्रीसे झल्लाकर कहा 'यह क्या बकता है?' मंत्री तुरन्त समझ गया और विनय पूर्वक बोला महाराज! यह नहीं बोलता। इस समय मदिरा बोलती है, और जैसे तैसे समझा बुझाकर राजाको महलोंमें लेगया। दूसरे दिन सभामे कोरीको बुलाकर राजाने पूछा क्यों हाथो लेता है? उसने कहा अन्नदाता! मैंने कब कहा था? आप राजा हो और मैं एक गरीब आदमी हूँ। गुजर बसर बड़ी मुश्किल से कर पाता हूँ। मैं क्या आपका हाथी खरीद सकता हू? आप न्यायप्रिय हो, मेरा न्याय करो। राजाने मंत्रीकी ओर देखा। मंत्री बोला 'महाराज! मैंने तो पहिले ही कहा था कि यह नहीं बोलता इस समय मदिरा बोलती है'। राजा बड़ा आश्चर्य चकित हुआ वैसे ही हम भी मोहरूपी मदिरा पीकर मतवाले हुए झूमते रहे है। वह अच्छा है, वह जघन्य है, अमुक स्थान इसके उपयोगी है, अमुक अनुपयोगी है, कुटुम्ब बाधक है, साधुवर्ग साधक

है—यह सर्व मोहोदयकी कल्लोल- माला है। मोहोदयमें जो कल्पनाए न हों, वे थोड़ी है। देखो, जब स्त्री पुरुषका विवाह होता है तब वह पुरुष स्त्रीसे कहता है कि मैं तुम्हारा जन्म पर्यन्त निर्वाह करूगा, और वह स्त्री भी पुरुषसे कहती है कि मै भी तुम्हारी जन्मपर्यन्त परिचर्या करूंगी। इसतरह जब विवाह सम्पन्न हो जाता है और उनमेसे यदि किसीको भी वैराग्य हो जाता है। घर छोड़ कर विरक्त हो जाते हैं। स्त्री विरक्त हुई तो आर्यिका होजाती हैं और पुरुषको विरक्ति हुई तो मुनि हो जाता है। तो अब बतलाइए कि वे विवाहके समय जो एक दूसरे से वचनबद्ध हुए थे, उसका निर्वाह कहा रहा? इससे सिद्ध हुआ कि यह सब मोहनीय कर्मका प्रबल उदय था। जब तक वह कर्मोदय है तभी तक सारा परिवार और संसार है। जहा इस कर्मका शमन हुआ तो वही परिवार फिर बुरा लगने लगता है। जब सीताजीका लोकापवाद हुआ और रामने सीतासे अग्नि-परीक्षा देनेको कहा। सीता अपने पतिकी आज्ञा शिरोधार्य कर जब अग्निकुण्डसे निष्कलंक हो देवोंद्वारा अर्चित होती है तब सीताको ससार, शरीर और भोगोंसे अत्यन्त विरक्तता आजाती है। उस समय राम आकर कहते है कि हे सीते! तू निरपराध है, धन्य है, देवों द्वारा पूजनीक है। आज मेरे हृदयके आसू नेत्रोंमे छलक आए है। प्रासादोंको चलकर पवित्र करो। अथवा अपने लक्ष्मणकीओर दृष्टिपात करो। अथवा हनुमान पर करुणा करो जिसने संकटके समय सहायता पहुंचाई। अथवा

अपने पुत्र लवाकुशको ओर तो देख। तब सीता कहती हैं हेराम! आप यह कैसी पागलपनकी वाते कर रहे हो? तुम तो स्वय ज्ञानी हो। ससारसे तो विरक्त होते नहीं, और मुझे विरक्त होने में वाधा करते हो। तुम्हे शर्म नहीं आती। मोहकी विडम्वनाका तो जरा अवलोकन कीजिये। एक दिन वह था जब सीता ने रावणके यहां रामके दर्शनार्थ खाना पीना विसर्जन कर दिया था। आसुओंसे सदा मुह धोती रहती थी। आज वही सीता रामके सन्मुख हो ऐसे वचन कहे कि 'तुम्हे शर्म नहीं आती'। कैसी विचित्र मोह माया है। राम जैसे महापुरुष भी इसके फन्देसे न वच सके। जब सीता हरी गई तो पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी उसके विरहमें इतने व्याकुल रहे, जो वृक्षोंसे पूछते है कि 'अरे क्या तुमने कहीं हमारी सीता देखी है' यही नहीं वल्कि वही पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी श्रीलक्ष्मणके मृत शरीरको लेकर ६ मास तक सामान्य मनुष्योंकी तरह भ्रमण करते रहे। क्या यह मोहका जादू नहीं है? वाह रे मोह राजा! तूने सचमुच जगतको अपने वशवर्ती कर लिया। तेरा प्रभाव अचिन्त्य है। जैसे भगवान् की लीला अपार है तो तेरी लीला भी अपरम्पार है। कोई भी तीन लोकमें ऐसा स्थान नहीं, जहां तूने अपनी विजय-पताका न फहराई हो। जब सीता महारानी और राम जैसे महापुरुषोंकी यह गति हुई, तो और रंक पुरुषोंकी क्या कथा? धन्य है तू और तेरी लीला को।

सम्यग्दृष्टि और उसकी प्रवृत्ति

अब कहते है कि सम्यग्दृष्टि कौन है ? जिसको हेयोपादेयका ज्ञान हो गया है वही सम्यग्दृष्टि है । इसका दृष्टान्त इस प्रकार है कि देवदत्त और यज्ञदत्त दो भाई थे। उनके दो लड़के थे। एक देवदत्त का और दूसरा यज्ञदत्तका । एक दिन देवदत्त दो आम लाया। पहला आम दूसरेकी अपेक्षा कुछ अच्छा था। विशेष अन्तर नहीं था। उसने अच्छे आम को दाहिने हाथ मे लिया, कुछ न्यूनता लिए दूसरे आम को बाये हाथमें, और दोनों लड़कों को अपने पास बुलाया। जो उसका लड़का था वह बांई ओर बैठा और दूसरा दाहिनी ओर। अब देखो, उसको सीधे हाथ करके दोनों आमोंको सीधे दे देना चाहिये था। ऐसा न करके उसने दाहिने हाथको बाये वा बाऐ हाथको दाहिने कर वे दोनों आम उन दोनों लड़कों को दे दिए। उसका भाई दूर से खड़ा हुआ यह कौतुक देख रहा था वह तुरन्त उसी समय आकर बोला 'भाई,! मुझे तो अलग कर दो' वह बोला 'क्यों' किसलिये अलग होना चाहते हो ? उसने कहा, तुम जानते हो या मैं जानता हूँ। वैसे ही सम्यग्दृष्टिको आत्मा और अनात्मा का भेद-विज्ञान प्रकट हो जाता है। वह सकल बाह्य पदार्थोंको हेय जानने लगता है। पर-पदार्थों से उसकी मूर्छा बिल्कुल हट जाती है। यद्यपि वह विषयादि मे प्रवर्तन करता है परन्तु वेदना का इलाज समझ कर। क्या करे, जो पूर्व बद्धकर्म है उनको तो भोगना ही पड़ता

है। हा, नवीन कर्मका बंध उस चालका उसके नहीं बचता। हमको चाहिये कि हमने अज्ञानावस्थामे जो कर्म उपार्जन किये है, उनको हटानेका प्रयत्न न करे, बल्कि आगामी नूतन कर्मका बन्ध न होने दे। अरे, जन्मान्तरमे जो कर्मोपार्जन किये गये है उनको तो भोगना ही पड़ेगा। चाहे रो करके भोगो, चाहे हंस करके। फल तो भोगना ही पड़ेगा, यह निश्चित है। यदि 'हाय हाय'करके भइया रोगकी शान्ति हो जाय तो उसे भी कर लो। परन्तु ऐसा नहीं होता। हाय हायकी जगह भगवान् भगवान् कहे और उस वेदनाको शान्ति से सहन करले और ऐसा प्रयत्न करे जिससे आगे वैसा बंध न होय। हाय हाय करके होगा क्या ? हम आपसे पूछते है इससे उलटा कर्म बन्ध होगा। सो ऐसा हुआ, जैसे किसी मनुष्यको ५००) रु० मय व्याजके देना था सो तो दे दिया, ६००) रु० और कर्जा सिर पर ले लिया। जैसा दिया वैसा न दिया। तो हमको पिछले कर्मोंकी चिन्ता न करनी चाहिये, बल्कि आगामी कर्मका सबर करे। अरे, जिसको शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना हे वह नवीन शत्रुओंका आक्रमण रोक देवे और जो शत्रु गढ़ मे है वह तो चाहे जब जीते जा सकते हैं। इसकी चिन्ता न करे। चिन्ता कर तो आगामी नवीन बंधकी, जिससे फिर बन्धन मे न पड़े, और जो पिछले कर्म है वह तो रस दे कर खिरेंगे ही, उनको शान्ति पूर्वक सहन करले। आगामी कर्म-बन्ध हुआ नहीं, पिछले कर्म रस देकर खिर गये। आगामी कर्जा लिया नहीं पिछला कर्जा

अदा किया। चलो छुट्टी पाई। प्रत्याख्यानका मतलब क्या है? आगे आने वाले कर्मका संवर करे, यही तो प्रत्याख्यान है। और क्या तुम्हीं बताओ? सम्यग्दृष्टि पिछले कर्मोंकी चिन्ता नहीं करता बल्कि आगामी जो कर्म बन्धन वाले है, उनका संवर करता है जिससे उसके उस चालका बन्ध नहीं होता। रहे पिछले कर्म सो उनको ऐसे भोग लेता है जैसे कोई रोगी अपनी वेदनाके लाने कड़वी औषधिका सेवन करता है। तब विचारे रोगीको कड़वी औषधसे प्रेम है या रोग निवृत्तिसे। ठीक यही हाल सम्यक्-दृष्टि का चारित्रमोहके उदयसे होता है। वह अशुभोपयोगको तो हेय समझता ही है और शुभोपयोग-पूजा दानादि-में प्रवृत्ति करता है उसको भी वह मोक्ष-मार्गमें बाधक जानता है। वह विषयादिमें भी प्रवर्तन करता है पर अन्तरंगसे यही चाहता है कि कब इस उपद्रवसे छुट्टी मिले? जेलखाने मे जेलर हन्टर लिए खड़ा रहता है कैदीको सड़ाक सड़ाक मारता भी है और आज्ञा देता है कि 'चलो चक्की पीसो, बोझा उठाओ' आदि। तब वह कैदी लाचार हो उसी माफिक कार्य करता है परन्तु विचारो, अन्तरंगसे यही चाहता है कि हे भगवन्! कब इस जेलखाने से निकल जाऊं। पर क्या करे, परवश दुःख भोगना पड़ता है। यही हाल सम्यग्दृष्टिका होता है। वह चरित्रमोह की जोरावरीसे अशक्य हुआ गृहस्थीमे अवश्य रहता है पर 'जैसे जलमें कमल-दल जलको परसै नाहिं'

वैसे उसका लक्ष्य केवल शुद्धोपयोग मे ही रहता है वह बाह्यमें वैसा ही प्रवर्तन करता है जैसा मिथ्यादृष्टि, परन्तु दोनोंके अन्तरंग अभिप्राय प्रकाश और तमके समान सर्वथा भिन्न हैं। मिथ्यादृष्टि भी वही भोग भोगता है और सम्यक्त्वी भी। बाह्य में देखा तो दोनोकी क्रिया समान है। पर मिथ्यात्वी रागमे मस्त हो झूम जाता है और सम्यक्त्वी उसी रागको हेय जानता है।

पंडित मूरख दो जने भोगत भोग समान।
पंडित समवृत्ति ममत विन, मूरख हरष अमान॥

यही कारण है कि मिथ्यादृष्टिके भोग बंधनके कारण हैं। सम्यक्त्वीके निर्जराके लिये। क्यो, वही ज्ञान और ी प्रभुता के कारण।

सम्यक्त्वी के भोग निर्जरा हेत है।
मिथ्यातीके वही बंध-फल देत है॥

कोई पूछे सम्यक्त्वी जो भोग भोगता है क्या उसे बंध नहीं होता ? इसका उत्तर कहते है कि बन्ध यों तो दशम गुणस्थान तक बतलाया है। पर मिथ्यात्व और अनतानुबंधी कषाय जो सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी है उसका अभाव होनेसे अनतसंसारकी अपेक्षा वह अबंध ही है। सम्यग्दृष्टिका ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। वह पदार्थोंके स्वरूपको यथावत् जानने लग जाता है। 'सब पदार्थ अपने अपने स्वरूपमे परिणमन कर

रहे है। कोई पदार्थ किसी पदार्थके अधीन नहीं है, इसका उसे दृढ़ श्रद्धान हो जाता है। इसलिए वह किसी पदार्थसे रागद्वेष आदि नहीं करता उसकी दृष्टि बाह्य पदाथ मे जाती अवश्य है पर रत नहीं होती। यद्यपि औदयिक भावोंका होना दुर्निवार है, परन्तु जब उनके होते अन्तरङ्ग की स्निग्धताकी सहायता न मिले तब तक वह निर्विष सर्पके समान स्वकार्य करनेमे असमर्थ है। ऐस अनुपम .एव अलौकिक या स्वात्मीक सुख का उस अनायासही अनुभव होने लगता है। यही 'कारण है कि सम्यक्त्वी बाह्य मे मिथ्यादृष्टि जैसा प्रवर्तन करता हुआ भी श्रद्धामे राग द्वेषादिके स्वामित्वका अभाव होने से अबंध है, और वही मिथ्यादृष्टी राग-द्वेषादिके स्वामित्वके सद्भावसे निरन्तर बधता ही रहता है। सो भइया! बस सब अन्तरंगके अभिप्रायकी बात है। अभिप्राय निर्मल होना चाहिए। कोई भी कार्य करते समय अपने अभिप्रायको देखे कि उस समय कैसा अभिप्राय है? यदि वह अपने अभिप्रायों पर दृष्टिपात नहीं करता तो वह मनुष्य नहीं, पशु है। सबसे पहिले अपने अभिप्रायको निर्मल बनाए। अभिप्रायोंके निमल बनानेमे ही अपना पुरुषार्थ लगा देवे। जिन जीवोंके निरन्तर निर्मल परिणाम रहते है वे नियमसे सद्गतिके पात्र होते है। हा तो सम्यग्दृष्टि के परिणाम निरन्तर निर्मल होते जाते हैं। वह कभी अन्यायमे प्रवृत्ति नहीं करता

अच्छा बताओ, जिसकी उपर्युक्त जैसी भावना है, वह काहेको अन्याय करेगा। अरे, जिसने रागको हेय जान लिया वह क्या राग के लाने अन्याय करेगा? जो विषयो के त्यागनेका इच्छुक है वह क्या विषयोंके लाने दूसरोंकी गाठ काटेगा? कदापि नहीं वह गृहस्थीमें उदासीनतासे रहता हुआ जब चारित्रमोह गल जाता है तब तुरंत ही व्रतोंको धारण करने लगता है। भरतजी घर ही में वरागी थे। उनको अन्तर्मुहूर्तमे ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इसका कारण यही कि इतना विभूति होते हुए भो वह अलिप्त थे। किसी पदार्थमें उनकी आसक्ति बुद्धि नहीं थी। पर देखो भगवानको वह यश प्राप्त नहीं। क्या वह वैरागी नहीं थे? अस्तु सम्यग्दृष्टिको महिमा ही विलक्षण है, उसकी परिणति भइया वही जाने, अज्ञानियोंको उसका भेद मालूम नहीं होता।

एक मनष्य था। उसका यह नियम था कि जो कोई उसके पास चीज लाए, वह ले लिया करता था। एक दिन एक मनुष्य दरिद्रता लाया। उसने नियमानुसार वह ले ली। जब दरिद्रता महारानीका पदार्पण हुआ तो सब धन स्वाभाविक ही जानेको ठहरा। यहां तक कि क्षमा, तप, यम, सयम सभी गुण जाने लगे। जब सत्य जाने लगा, तो उसने पकड़ लिया और एक तमाचा लगाया। वह कहने लगा तू कहा जाता है? सत्य बोला 'जहां सब जाते हैं वहा मैं भी जाता हूँ।' उसने कहा 'सब चले जाएँ तो चले जाए' पर मैं तुझे नहीं जाने देता। त क्यों जाता है? उसे पकड कर रख लिया। तब सत्यके

आ जानेसे सभी गुण अपने आप आगए। तो वही शुद्ध दृष्टि अपनी होनी चाहिये। बाह्य नानाप्रकार के आडम्बर किया करो, कुछ नहीं होता। गधी के सौ बच्चे होते हुए भी भार ढोती रहती है और सिंहनी के एक बच्चा होता हुआ भी 'निर्भय स्वपिति' निर्भय सोती रहती है।

एक मनुष्य था। वह हीरों की खानमे काम करता था। हां ऐसा होता था कि जो खानमे काम करता और उसके द्वारा जो हीरा प्राप्त होता वह सरकार ले लिया करती थी और फिर वह सरकार कुछ उसे दे दिया करती थी। वह आदमी था तो लखपति, पर दैवयोगसे गरीब हो गया था। एक दिन खदान मे काम करते करते कुछ नहीं मिला एक छोटी सिला मिल गई। वह उसे लेकर घर आया उसकी स्त्री उस पर मसाला पीस लिया करती थी। एक दिन एक जौहरीको उसने निमन्त्रण दिया। वह आया और शिला को देखकर बोला तुम इसके सौ रुपये ले लो। वह आदमी अपनी स्त्री से पूछने गया। त्र।

पीसनेके काम आ जाती है। वह सौ रुपये देता है यह लो मुझसे १०००) रु० के गहने। इसे बेच लो। वह आदमी जौहरीके पास आ कर बोला स्त्री नहीं बेचने देती। मैं क्या करूं। तब जौहरीने कहा यह लो २०००) रु० अच्छा ३०००) रु० ले लो। वह समझ गया और उसने नहीं दी।

उसने उसी समय सिलावटको बुलाकर उसके दो टुक्डे करवाए। टुकड़े करवाते ही हीरे निकल पडे। वह मालामाल हो गया। तो देखो यह आत्मा कर्मों के आवरण से ढकी पड़ी है। वह हीरेकी ज्योति के समान है। जब वह निरावरण हो जाती है तो अपना पूर्ण प्रकाश विकीर्ण करती है। हीरेकी ज्योति भी उसके सामने कुछ नहीं। उस आत्माका केवल ज्ञायक स्वभाव ही है। सम्यग्दृष्टि उसी ज्ञायक स्वभावको अपना कर कर्मोंके ठाटको कटाक्षसे उड़ाकर परात्मस्थिति तक क्रमश पहुँच जाता है और सुखार्णव मे डूबा हुआ भी अघाता नहीं।

अब कहते है कि एक टकोत्कीर्ण शुद्ध आत्मा ही पद है, इसके विना और सब अपद है। वह शुद्ध आत्मा कैसी है? ज्ञानमय एवं परमानन्द-स्वरूप है। ज्ञानके द्वारा ही ससार का व्यवहार होता है। ज्ञान न हो तो देख लो कुछ नहीं। यह वस्तु त्यागने योग्य है और यह ग्रहण करने योग्य है—इसकी व्यवस्था कराने वाला कौन? एक ज्ञान ही तो है।

वास्तव में अपना स्वरूप तो ज्ञाता-द्रष्टा है। केवल देखना एव जानना मात्र है। यदि देखने मात्र ही से पाप होता है तो मै कहूँगा कि परमात्मा सबसे बड़ा पापी है, क्योंकि वह तो चराचर वस्तुओंको युगपत् देखता और जानता है। तो इससे सिद्ध हुआ कि देखना और जानना पाप नहीं, पाप तो अन्तरंग का विकार है। यदि स्त्रीके रूपको देख

लिया तो कोई हर्ज नहीं पर उसको देखकर राग करना यही पाप है। हे भइया! जो यह पर्देकी प्रथा चली, इसका मूल कारण यही कि लोगोंके हृदयमे विकार पैदा हो जाता था। इन लम्बे लम्बे घूंघटोंमें रक्खा क्या है? बताओ। आत्माका स्वरूप ही ज्ञाता द्रष्टा है। अब बताओ बाबा जी, इन नेत्र इन्द्रियोंसे देखे, नहीं तो क्या फोड़ लें? नेत्र इन्द्रियोंका काम ही पदार्थोंको दिखाना है। दर्शक बनकर द्रष्टा बने रहो तो कुछ विशेष हानि नहीं किन्तु यदि उनमे मनोनीति कल्पना करना, राग करना तभी फंसना है। राग से ही बन्ध है। परमात्मा का नाम जपे जाओ ॐ नमः वीतरागाय, ॐ नमः वीतरागाय, ॐ नमः वीतरागाय। क्या होता है? कोरा जाप मात्र जपने से उद्धार नहीं होता यदि जपने ही से उद्धार हो जाय तो क्यों नहीं होता? अरे, परमात्माने जो कार्य किए-रागको छोड़ा संसार को त्यागा, तुमभी वैसा ही करो। सीधी सादी सी तो बात है। दो पहलवान हैं। एक के तेलका मर्दन है, दूसरे के नहीं। जब ये दोनों अखाड़े मे लड़े तो एकको मिट्टी चिपक गई, दूसरे को नहीं। अतः राग की चिकनाहट ही बन्ध करने वाली है। देखो दो परमाणु मिले एक स्कंध हो गया। अकेला परमाणु कभी नहीं बंधता तो आत्माका ज्ञान गुण बन्धका कारण नहीं। बन्ध का कारण उसमें रागादिक की चिकनाहट है।

संसार के सब पदार्थ जुदे जुदे हैं। कोई भी पदार्थ किसी

भी पदार्थ से बंधता नहीं है। इस शरीर को देखो। कितने ही स्कन्धोंसे बना है? जब स्कध जुदे जुदे परमाणु मात्र रह जाय तो सब स्वतन्त्र हैं, अनादिनिधन हैं। केवल अपने मानने मे ही भूल पड़ी हुई है। उस भूलको मिटा दो, चलो छुट्टी पाई और क्या धरा है? ज्ञान का काम तो केवल पदार्थों को जताना मात्र है। यदि उस ज्ञान में इष्टानिष्ट कल्पना करो, तो बताओ किसका दोष है? शरीर तो आत्मा होता नहीं। जैसे दूरपर सीप पडी है और तुम उसे चादी मान लो तो क्या सीप चादी हो जायगी? वैसे ही शरीर कभी आत्मा होता नहीं। अपने विकल्प किया करो। क्या होता है? पदार्थ तो जैसे का तैसा ही है। केवल मानने में ही गलती है कि इद मम' यह मेरी है। उस भूलको मिटादो। शरीरको शरीर और आत्मा को आत्मा जानो। यही तो भेद विज्ञान है। और क्या है? बताओ।

अत: उस ज्ञायक स्वभावको वेदन करो सोना जड़ है वह अपने स्वरूपको नहीं जानता। लेकिन आत्मा शुद्ध चेतन्यधातु-मय पिंड है, वह उसको जानता है। अब उस ज्ञायक स्वभावमयी आत्मासे जेसे विशेष ज्ञान हुआ वह उसके लिए साधक है? या बाधक? देखिए जैसे सूर्य मेघ पटलों से आच्छादित था मेघ पटल जैसे दूर हुए वैसे वैसे उसकी ज्योति प्रगट होती

आगई। अब बतलाओ वह ज्योति जितनी प्रगट हुई वह उसके लिए साधक है ? या बाधक है ? दरिद्रीके पास पांच रुपये आए वह उसके लिए साधक हैं ? या बाधक ? हम आपसे पूछते हैं। अरे, साधक ही हैं। वैसे ही इस आत्माके जैसे जैसे ज्ञानावरण हटे, मति श्रुतादिविशेष प्रकट हुए, वह उसके लिए साधक ही हैं। अतः ज्ञानार्जनका निरंतर प्रयास करते रहो।

मनुष्यको पदार्थोंके हटानेका प्रयत्न न करना चहिए बल्कि उनमे राग द्वेषादिक जो विकल्प उठते हैं, उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करे। पदार्थोंके हटाने से होगा क्या ? हम आप से पूछते हैं। मान लिया, स्त्री खराब होती है। हटाओ, उसे कब तक हटाओगे ? नहीं हटी तो बेचैनी बढ़ गई। अतः स्त्रीको मत हटाओ उसके प्रति जो तुम्हारी राग बुद्धि लगी है उसे हटाने का प्रयत्न करो यदि राग बुद्धि हट गई तो फिर स्त्री को हटानेमें कोई बड़ी बात नहीं। पदार्थ किसीका बुरा भला नहीं करते। बुरा भलापन केवल हमारे अंतरंग परिणामोपर निर्भर है। कोई पदार्थ अपने अनुकूल हुआ उससे राग कर लिया और यदि प्रतिकूल हुआ उससे द्वेष। किसीने अपना कहना मान लिया तो वाह वा, बडा अच्छा है और कदाचित् नहीं माना तो बड़ा बुरा है दृष्टिसे विचारो तो वह मनुष्य न तो बुरा है और न भला। वह तो केवल निमित्त मात्र है। निमित्त कभी अच्छे बुरे होते नहीं यह तो उस मनुष्यके आत्मा की दुर्बलता है जो अच्छे बुरे की

कल्पना करता है। कोई कहता है कि स्त्री मुझे नहीं छोड़ती, पुत्र मुझे नहीं छोड़ता, क्या करूं धन नहीं छोड़ने देता। अरे मूर्ख, यों क्यों नहीं कहता कि मेरे हृदयमे जो राग है वह नहीं छोडने देता। अपना दोषारोपण दूसरो पर करता है यदि इस रागको अपने हृदयसे निकाल दे तो देखें कौन तुझे नहीं छोड़ने देता? कौन तुझे विरक्त होनेसे रोकता है? अपने दोषको नहीं देखता। मै रागी हूँ ऐसा अनुभव नहीं करता। यदि ऐसा ही हो जावे तो ससारसे पार होनेमे क्या देर लगे? यह पूर्व ही कह चुके हैं कि पदार्थ अपने अपने स्वरूप मे है। कोई पदार्थ किसी पदार्थके अधीन नहीं, केवल मोही जीव ही सशक हुआ उनमे इष्टानिष्टकी कल्पना कर अपने स्वरूपसे च्युत हो निरन्तर बंधता रहता है। अत हमारी समझमे तो शान्तिका वैभव रागादिकों के अभावमे ही है।

ज्ञान की स्वच्छता

अब बतलाते हैं कि ज्ञान बिलकुल स्वच्छ-दर्पणवत् है। जैसे दर्पणमें स्वभावसे ही घटपटादि प्रकाशित होते हैं वैसे ही ज्ञानमें सहज ही सम्पूर्ण ज्ञेय झलकते है। अब दर्पणमें घटपटादि प्रतिबिम्बित होते अवश्य हैं, किन्तु घटपटादि उसमें प्रवेश कर जाते हैं? नहीं, घटपटादि अपनी जगह पर हैं, दर्पण अपने स्वरूपमे है। केवल दर्पणका परिणमन उनके आकार हो गया है। तुमने दर्पणमें अपना मुंह देखा तो क्या तुम दर्पणमें

चले गये ? यदि दर्पणमे चले गए तो यहा सूरत पर जो कालिमा लगी है उसको वहा दर्पणमे क्यों नहीं मिटाते ? अपनी सूरत पर ही कालिमा को मिटाते हो। इससे सिद्ध हुआ कि दर्पण अपनी जगह पर है, हम अपनी जगह पर हैं। कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थमें प्रवेश नहीं करता। यह सिद्धांत है। ज्ञानका सहज स्वभाव ही स्व-पर प्रकाशक है। जैसे दीपक अपने को तथा परको दोनोको दिखाता है। स्वभावमे तर्क नहीं चला करता। ज्ञान आत्माका एक विशेष गुण है जैसे अग्नि और ऊष्ण दोनोंका अभेदपना है। एक आम है उसमे रूप, रस, गंध और स्पर्श ही तो है। कहा भी है 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः' इन चारोंका समुदायही तो आम है। अब किसी महान् वैज्ञानिक को ले आइए और उससे कहो कि हमे इसमे से रूप रसको निकाल दो क्या वह निकाल सकता है? परन्तु ज्ञानमे वह शक्ति है कि इन्द्रियोद्वारा पृथक्करण करके रूपको जाने, रस को जाने और स्पर्शको जाने। ज्ञानमे अचिन्त्य शक्ति है। और वास्तवमे देखो तो ज्ञानके सिवाय कुछ है भी नहीं, मिश्री मीठी होती है, यह किसने जाना ? केवल ज्ञानने। ज्ञानने आत्माको बतला दिया है कि मिश्री मीठी होती है। अब देखो ज्ञानहीका तो परिणमन हुआ पर हम लोग ज्ञानको तो देखते नहीं और पदार्थों मे सुख मानते हैं। ज्ञेयमिश्रित ज्ञानका अनुभवन करते है कोई कहता है कि रूखी रोटी खानेमे अच्छी नहीं लगती। कैसे

अच्छी लगे ? अरे मूर्ख, अनादि कालसे मिश्रित पदार्थोंका स्वाद लेता आ रहा है। अच्छी लगे तो कैसे लगे ? दालमें नमक भी है, मिर्ची भी है, खटाई भी है और घी भी डला हुआ है। पर मूर्ख प्राणी तीनोंका मिश्रितस्वाद ले रहा है और कहता है बड़ी बढ़िया बनी है। अब देखो नमक अपना स्वाद बतला रहा है, मिर्ची अपना स्वाद बतला रही है और इसी प्रकार घी अपना स्वाद बतला रहा है और जिसके द्वारा यह जान रहा है उसज्ञान-का अनुभव नहीं करता। ज्ञेयानुभूतिमें ही सुख मानता है। यही अनादि कालस अज्ञानकी भूल पड़ी है। ज्ञेयानुभूतिमें ही मगन हो रहा है, ज्ञानानुभूतिका कुछ भी पता नहीं। पर सम्यग्ज्ञानी ज्ञान और ज्ञेय का पृथक्करण करके ज्ञान को जो स्वाश्रित है उसे अपना समझकर ज्ञेय जो पराश्रित है उसका त्याग कर देता है। वैसे देखो तो ज्ञेय ज्ञान में कुछ घुस नहीं जाता। ऊपर ही ऊपर लौटता रहता है पर मोही जीव उसे अपना मान बैठते हैं। पर सम्यग्ज्ञानी अपनी भेद-विज्ञानकी शक्तिसे निरन्तर शुद्ध ज्ञानका आस्वादन ही करता रहा है। वह ज्ञान किसी परपदार्थका लेश मात्र भी प्रवेश नहीं चाहता। ज्ञानी जानता है मेरी आत्मामें ज्ञान लबालब भरा है। इस प्रकार वह ज्ञानमें ही उपादेय बुद्धि रखता है पर बाबाजी ! स्वाश्रित और पराश्रित ज्ञान में बड़ा अन्तर है। हमारा ज्ञान कौन काम का ? अभी आंखें बन्द करलो बताओ क्या दीखता है ? अच्छा, आखें भी खुलीं है पर सूर्य

अस्त हो जाय तब अन्धकारमे क्या दिखेगा ? बताओ ।

अत: इन्द्रियजन्य ज्ञान किसी कामका नहीं । ज्ञान तो स्वाश्रित केवल ज्ञान है जिसकी अखण्ड ज्योति निरन्तर प्रज्वलित होती रहती है । हम ऐसी नित्यानन्दमयी ज्ञान-आत्मा को विस्मरण कर परपदार्थोंके विषयो मे सुख मानते है । उन्हीं सुखो की प्राप्तिमे सारी शक्ति लगा देते है । पर उनमे सुख है कहा ? परपदार्थके आश्रित जितनाभी सुख है वह सब आकलतामय है । मनमे भोगोकी आकुलताहुई तो विषयोंमे प्रवर्तन करने लग गए रूपको देखनेकी आकुलता मची तो सिनेमा चले गए । कानसे रेडियोके गाने सुन लिए । रसनासे व्यञ्जनादिके स्वाद ले लिए । यह रूप, रस, गध और स्पर्श के सिवाय और विषय है क्या चीज ? हम पुन. पुन: वही स्वाद ले लिया करते है जैसे कोल्हू का वैल जहा देखो तो वही । और देखो, इन इन्द्रियजन्य विषयों का कितना देरका सुख है ? ओसकी बूंदके समान । अत: इन्द्रियाधीन सुख वास्तविक सुख नहीं । परं होते है बावाजी बड़े प्रबल ! इनका जीतना कोई सामान्य बात नहीं है ।

इन्द्रिय-विषयो की प्रभुता

एक मनुष्य था भइया । उसने एक स्थान पर यह चरण लिखा:—

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति'

अर्थात् इन्द्रियोंके विषय बड़े बलवान होते हैं, विद्वानों तक को आकर्षित कर लेते हैं। उसी स्थान पर एक साधु आया और उसने प्रथम चरण पढ़कर दूसरा चरण लिख दिया कि ज्ञानीको इन्द्रिय-विषय आकर्षित नहीं करते। जब उस मनुष्यने पढ़ा तो उसने उस साधुकी परीक्षा करनी चाही। एक बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की और खूबसूरत स्त्री-वेष बनाया-वही नैन मटकाना कटाक्ष करना, हाव-भाव बतलाना और सब संगीत-साज बाज लेकर उसी वनमे पहुँची, जहां वह साधु रहता था। साधुने कहा 'यहाँ क्यों आई है ? हम मनुष्यों तकको अपने पास नहीं फटकने देते, तू तो स्त्री है। जाओ यहासे चली जाओ।' तब वह स्त्री बोली 'महाराज मैं एक अबला हूँ। संध्या हो गई है, रात्रि होने वाली है। आगे सिंह-व्याघ्रादि जानवरों का भी डर है। मैं तो एक तरफ पड़ी रहूँगी।' उस साधुने बहुत हठ किया, पर वह न मानी। अन्तमे वह साधु अपनी कुटियामे चला गया। बाहरसे उस स्त्री ने संकल लगादी। जब अर्ध रात्रिका समय हुआ और जो उसने मिष्ट स्वरोंसे आलाप भरा तो उसी समय साधुके काम वासना जागृत हो गई। स्त्रीका रूप और हास-विलास तो पहिले देखा ही था और अर्ध रात्रिका समय भी सुहावना था। उसने तुरन्त दरवाजे के किवाड़ खटखटाए। स्त्री बोली क्या बात है ? साधुने कहा 'अर सकल तो खोल।' उसने नहीं खोली और कहा कि पहले बात बताओ। साधु बोला 'जरा पेशाब

लगी है'। स्त्री बोली ऊँहूँ, वहीं किसी वर्तन मे करलो। परन्तु साधुके निरन्तर कामज्वर बढ़ रहा था, अन्त मे छप्पर फाड़के निकल आया। उसी समय तुरन्त उस मनुष्यने वास्तविक स्वरूप प्रकट कर लिया और कहा—'क्या वह चरण सत्य नहीं है ? 'कि इन्द्रिय-ग्राम ज्ञानी को आकर्षित नहीं करते।' साधु बड़ा लज्जित हुआ और बोला इस चरणको स्वर्णाक्षरोंमे लिखदो पचेन्द्रियके विषय बड़े बड़े विद्वानों को फंसा लेते हैं पर वीतरागियों को नहीं। पर विचारो तो, इन्द्रियाधीन सुख शाश्वत नहीं, विनाशीक-है सुखाभास है। सहज शाश्वत सुख तो केवल आत्माके अनुभवमें ही है। जिस प्रकार विषयादि सुख आत्माके नहीं उसीप्रकार क्रोधादि विभाव-परिणामभी आत्माके नहीं हैं। यदि आत्माके होते तो काहे को पीछे से हाथ जोड़ते, भूल होगई, माफ करो। इससे साबित होता है कि क्रोधादि विभाव भाव भी आत्मा के नहीं है। औदयिक है, मिटने वाली चीज है। पर क्षमा आत्माकी चीज है, वह निरन्तर बनी रहती है। अतः आत्माको निर्मल बनाओ। अभिप्रायको साफ रखो। यदि किसीके थप्पड़ मार दे तो बुरा लग जाय और कहीं पैर दबाने लगजाय तो प्रसन्न होजाय। तो सब अन्तरगके परिणामों की कीमत है। गतियों में गमन भी परिणामानुसार है।

एक मुनिराज शिलापर ध्यान लगाए बैठे थे। उसी समय सिंह खाने को दौड़ा। उधर से शूकर भी मुनिराज के बचाने के

अभिप्रायसे दौड़ा। उनमे भयकर युद्ध हुआ। दोनों प्राणान्त हुए। एक स्वर्ग गया और दूसरा नरक पहुँचा। परिणामोंकी निर्मलताका ही तो यह फल है। शुद्ध परिणाम ही मोक्षमे साधक है, इसमे सदेह नहीं।

शुद्ध चेतना के अवलम्बन

अब कहते हैं कि मनुष्य को एक शुद्ध चेतना का ही आलम्बन है। वह टंकोत्कीर्ण-टांकी से उत्कीर्ण फूलके समान एक शुद्ध भाव है। वह निर्विकार एवं निर्विकल्प एक शुद्ध ज्ञानघन है। उसमे किसी भी प्रकारकी सकरता नहीं। बाह्यमे अवश्य दोनो (पुद्गल और जीव) का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होरहा है पर किसीका एक प्रदेश भी किसीमे प्रविष्ट नहीं होता। जैसे चार तोला सोना है और उसमे चार तोले चादी मिलादी, इस तरह वह आठ तोले की चीज बन गई। उस सर्राफके पास बेचने ले जाओ, तो क्या वह तुम्हे आठ तोलेके दाम दे देगा? नहीं। वह तो चार तोले ही की कीमत करेगा, परन्तु जो नहीं जानने वाले है उनको वह आठ तोले ही दीखती है। वैसेही आत्मा और पुद्गल के एकमेक होनेसे ज्ञानी को तो एक शुद्ध आत्मा ही है अज्ञानीको वह मिश्रित है। अब देखो, बाह्य मे सोना और चादी बिल्कुल मिली हुई दिखती है पर विचारो सोना अलग है और चादी अलग है। सोनेका परिणमन सोने मे हो रहा है और चादीका परिणमन चांदीमे। सोनेका एक

चावल चांदी मे नहीं जाता। और चादीका एक चावल सोनेमें नहीं आता । वैसे ही आत्मा अलग है और पुद्गल अलग है। आत्माका परिणमन आत्मामें हो रहा है और पुद्गल का परिणमन पुद्गलमें। आत्माका चतुष्टय जुदा है, पुद्गलका चतुष्टय जुदा है। आत्मा की चेतनता पुद्गलमें नहीं जाती और पुद्गलकी जड़ता आत्मामें नहीं आती। पर व्यवहारमें देखलो एक सी दिखती है। और जब उस सोने चादीको तेजाबमें डाल दिया तो सोना सोना रह जाता है, चांदी चांदी रह जाती है। वैसा ही तत्वदृष्टिसे विचारो तो आत्मा आत्मा है और पुद्गल पुद्गल ही है। कोईका किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं। चेतन जड़का क्या काम ? अब देखिये शरीर पर कपड़ा पहिना तो क्या कपड़ा शरीरमें प्रवेश कर गया ? वह जीर्ण वस्त्रको उतार कर दूसरा नवीन वस्त्र पहिन लिया। वैसे ही आत्मा ८४ लाख योनियोंमें पर्याय मात्र बदल लेती है। कोई कहे कि इस तरह तो आत्मा त्रिकाल शुद्ध हुई। उसमें कुछ बिगाड़ भला होता नहीं, चाहे कुछ भी करो। पर ऐसा नहीं। नय-प्रमाणसे पदार्थोंके स्वरूप को समझनेका यत्न करो। द्रव्य-दृष्टिसे तो वह त्रिकाल सर्वथा शुद्ध है पर वर्तमान पर्याय उसकी अशुद्धही माननी पड़ेगी। अन्यथा । संसार किसका ?

ये भाइया ! जो तुम पूजा करते हो तो भगवान् से कहते हो न ?

शुद्धोपयोगकी प्राप्ति नहीं हुई तब तक शुभोपयोग रूपही प्रवतता है। यदि आज ही शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो जाय तो आज ही त्याग दे। तो भइया! शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों हेय है। इसका यह मतलब नहीं कि हम शुभोपयोग नकरे। शुभोपयोग करो-इसका कौन निषेध करता है? शुभोपयोगको त्यागनेसे शुद्धोपयोग नहीं होता, किन्तु शुभोपयोगमें जो मोक्षमार्गकी कल्पना कर रक्खी है, उसके त्याग और राग-द्वेष की निवृत्तिसे शुद्धोपयोग होता है और यही परिणाम मोक्ष-मार्ग का साधक है। पर कुछ लोग अपनेको शुद्ध-बुद्ध और निरजन समझ कर स्वेच्छाचारी होजाते हैं और शुभकी जगह अशुभमे प्रवर्तन करने लग जाते हैं और फिर अपने को सम्यग्ज्ञानी मानते हैं, भइया यह बात तो हमारी समझ मे नहीं आती-। तत्वदृष्टिसे विचारो. क्या वह सम्यग्ज्ञानी होजायगा? जो ज्ञानी पुण्यको भी हेय समझे क्या वह पापमे प्रवर्तन करेगा? कदापि नहीं। टोडरमल्ल-जी,साहबने अपने मोक्ष मार्ग-प्रकाशमे एक स्थानपर लिखा है:—

सम्यग्दृष्टि. स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ॥
आलम्बन्तां समितिपरता ते यतोऽद्यापि पापा ।
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वशून्या ॥

'स्वयमेव यह मैं सम्यग्दृष्टि हूं, मेरे कदाचित् कर्मबंध नाहीं ऐसे ऊचा फुलाया है मुख जिनने ऐसे रागी वैराग्य

नहीं पहुँचाया, पहुँचाया तो उसकी चालने। छाया केवल निमित्तमात्र हुई। वैसेही शुभोपयोगने मोक्ष नहीं पहुँचाया। पहुँचाया तो शुद्धोपयोगने, पर व्यवहारसे कहते है कि शुभोपयोगने मोक्ष पहुँचाया। पर तत्वदृष्टिसे विचारो तो शुभोपयोग ससारहीका कारण है, क्योंकि उसमे रागका अश मिला हुआ है।

सम्यक्त्वी भगवान्के दर्शन करता है पर उस मूर्तिमे भी वह अपने शुद्ध स्वरूपकी ही झलक पाता है। हम भगवान्के दर्शन करते है तो हमे उनके दर्शनज्ञान और चारित्र हीतो रुचते हैं और है क्या ? क्योंकि जो जैसा अर्थ चाहता है वह उसी अर्थीके पास जाता है। जो धनका अर्थी होगा वह धनाढ्योंकी सेवा करेगा। वह हम सरीखोंके पास क्यों आवेगा ? और जो मोक्षार्थी होगा वह भगवान्की सेवा करेगा। हमे भगवान्के दर्शन ज्ञान और चारित्र रुचते है, तब तो ही हम उनके पास जाते हैं।

कहनेका तात्पर्य्य यह है कि सम्यक्त्वीका लक्ष्य केवल शुद्धोपयोग पर रहता है लेकिन फिलहाल वह शुद्धोपयोगपर चढ़नेके लिये असमर्थ है इसलिये शुभोपयोगरूप प्रवर्तता है पर अन्तरगमे जानता है कि यह भी मेरी शान्ति-मार्गसे बाधा उपस्थित करने वाला है। अब शुभोपयोगसे स्वर्गादिकी प्राप्ति हो जाय तो इसमे उसके लक्ष्यका तो दोष नहीं है।

देखिए, मुनि तपश्चरणादिक करते है जिससे उन्हे स्वर्गादिक मिल जाता है। पर तपका कार्य स्वर्गकी विभूति दिलानातो नहीं है। उसका काम तो मुक्तिरमा से मिलाना है। चूकि उस तप मे वह मुनि शुद्धोपयोगकी भूमि को स्पर्श नहीं करसका इसलिए शुभोपयोग द्वारा स्वर्गादिककीही प्राप्ति हा हो गई। जैसे किसान-का लक्ष्य तो बीज बोनेमे धान्य उत्पन्न करना है पर उससे घास फूसादिकी प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है। एतावत् शुभोपयोग होनेसे स्वर्गादिक मिल जाता है। अरे भइया! स्वर्गोंमे भी क्या धरा है? तनिक वहा ज्यादा भोग हैं। कल्पवृक्षों की छाया है। यहां ईट चूनेके मकान है वहा हीरे-कचनके प्रासाद है। और क्या? ज्यादास ज्यादा वहा अप्सराओंके आलिंगनका सुखहै, सो भी क्षणिक और अन्तत. दुखदायी। लेकिन अनुपम, अलौकिक, अतीन्द्रिय सच्चा शाश्वत सुख तो सिवाय अपनी आत्माके और कहीं नहीं है, यह निश्चय है।

अत. हमको प्रथम अपनी श्रद्धा ठीक करनी चाहिए। सम्यक्त्वीकी श्रद्धाकी ही तो महिमा है। वह जान जाता है कि मोक्षका मार्ग यही है। उसकी गाड़ी लाइनपर आजाती है। तो हमकोभी उस तरफ लक्ष्य रखना चाहिए। अब देखिए हम रुपया कमानेमे कितना उद्योग करते हैं। कठिनसे कठिन सवालोंकी गुत्थियाँ भी सुलझा लेते है क्योंकि उस तरफ हमारा लक्ष्य है।

प्राय: लोग सोचते हैं—क्या करें, मोक्षमार्ग तलवारकी धार है मुनिव्रत पालना बड़ा कठिन है। परिषह सहना बहुत मुश्किल है। तो हम तिलको ताड़ तो पहिले ही बना देते हैं। मोक्ष कैसे पहुँचेंगे ? अरे भाई, मोक्षमार्गके सन्मुख तो होओ। उस तरफ तनिक दृष्टिपात तो करो। एकाध व्रतके पालनेका अभ्यास तो करो। जैसे कोई व्यक्ति जहाजपर चढकर बम्बई पहुँचता है, कोई रेलमें बैठकर पहुचता है कोई घोड़ा-गाड़ीमें पहुँचता है और जिस पर घोड़ा गाड़ी नहीं है तो वह पैदल ही पहुँचता है। उसी तरह मोक्ष-मार्गके सन्मुख होना चाहिए फिर तो वहां तक पहुँचनेमें कोई बाधा नहीं। कभी न कभी वहा तक पहुँच ही जाएगे, पर उस तरफ दृष्टि रखनी चाहिए।

सम्यग्दृष्टिकी उस तरफ उत्कट अभिलाषा रहती है। उसकी श्रद्धा पूर्णरूपेण मोक्षकी ओर सन्मुख हो जाती है। अब चारित्र मोह है सो क्रमशः धीरे धीरे गल जाता है। वह उतना घातक नहीं जितना दर्शन-मोह। जब फोडे में से कीली निकल गई तो वह घाव धीरे धीरे भर ही जाता है। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्यको प्रथम अपनी श्रद्धाको सुधारनेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। अब देखिए, जब लड़की विदा होती है तब वह रोती है, चिल्लातीभी है बाहरमें सब क्रियाएं करती है पर जानती हैकि मेरा

तो पति गृह है। माता भाई कुटुम्बका कोई व्यक्ति मेरा नहीं। मनमे निश्चयमे जानती है कि मुझे तो वहीं पहुँचना है। वैसे ही सम्यग्क्त्वीको केवल वही रटना लगी रहती है।

'आत्मानुशासन' मे गुणभद्राचार्यने लिखा है कि एक शिष्य ने आचार्य महाराजसे पूछा पुण्य-बंध नरकका कारण है। यह सूधी सूधी बात क्यों नहीं कहते? क्योंकि पुण्यसे विषय सामग्री जुटती है और विषयों के मिलनेसे भोगनेकी इच्छा होती है भोगनेमे अशुभ कर्म-बन्ध पडता है और इस तरह नरक जाना होता है। आचार्य कहते हैं कि यह बात नहीं, पुण्यनरकका कारण नहीं है। पुण्यका तो काम विषय सामग्री जुटा देना मात्र है परन्तु तुम्हारी पदार्थके भोगनेमे जो आसक्ति है वह नरकका कारण है न कि पुण्य। पदार्थोंके भोगनेमे तो कोई आपत्ति नहीं पर उसमे लिप्त मत होजाओ। अत्याशक्ति ही नरककी जननी है। 'आश्रयेत् मध्यमां वृत्तिमति सर्वत्र वर्जयेत्' प० आशाधरजीने एक स्थान पर लिखा है कि विषयको अन्नकी तरह सेवन करे। यदि अन्न ज्यादा खा लिया जाय तो अजीर्ण हो जाय उसी तरह विषयोंको अधिक सेवनकरो तो मरो तपेदिक से। बुलाओ डाक्टरको। देखो आचार है उससे 'अति' लगादो तो अत्याचार हो जाय।

एक स्त्री थी। उसके बहुत लम्बे बाल होगए। पर वह प्रमादिनी थी, तो कभी उनको साफ न करे। साफ करे तो अच्छे लगें। उसके पतिने उससे कहा कि इनको साफ कर लिया कर।

पर हठी होनेकी बजहसे कहना नहीं माना और अन्ततोगत्वा उसके जूं पड गईं। तब दुखी देखकर उसके पतिने कहा क्या है? बाल कटवा डाल। उसने वैसा ही किया और वह बदसूरत लगने लगी। एक दूसरी स्त्रीने उससे पूछा—सखी! क्यों बाल कटवा दिए? वह स्त्री बोली—जूं पड़ गईं थीं। तो वह बोली—अरी मूर्खनी, उन्हे धोती क्यों नहीं थी? अगर धो लेती तो काहेको कटानेकी नौबत आती? इस तरह यदि भोगोंमे अत्यासक्त नहीं होते तो भइया! काहेको नरक जाते। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थों मे अति आसक्ति ही दुर्गतिका कारण है।

तुम्हारी जिन पदार्थोंमें रुचि है तभी तो तुम ग्रहण करते हो। और परिग्रह क्या है?' मूर्छा परिग्रह'। मूर्छा ही का नाम परिग्रह है। तुम्हारी भोजनमें रुचि है तभी तो खाते हो। मांको बच्चेसे मूर्छा है इसलिए तो लालन-पालन होता है। इस लँगोटीसे हमें मूर्छा है तभी तो रखे हैं तुम्हे घर-गृहस्थी से मूर्छा है तभी तो फंसे हो। यदि मूर्छा नहीं है तो फिर होजाओ मुनि। एक मुनि है, उन्हे मूर्छा नहीं है तो बताओ कौन लंगोटी सभाले? संभालने वाली चीज़ थी वह तोमिटगई। और तो और, एक लगोटी रांड ऐसी है जो मोक्ष नहीं होने देती। सोलह स्वर्ग से आगे जाने नहीं देती।

एक मनुष्यने किसी को कुछ रुपये देने का वायदा किया और उसने कहा घर चलकर दूंगा। मार्गमें आते आते बीचमें मुनि का समागम होगया और उपदेश पाते ही वह मुनि होगया। अब बताओ रुपया कौन देवे? अरे देने वाली चीज थी वह तो मिट गई। अत वह चीज जब तक बनी है तभी तक ससार है। जहा तक बने परपदार्थोंसे मूर्छा हटानेका प्रयत्न करो।' जितनी पदार्थों से मूर्छा हटेगी उतनी ही स्वात्मा की ओर प्रवृत्ति होगी। लोग कहते हैं कि जितने यह धनाढ्य पुरुष है, उन्हें बडा सुख होगा मैं तो कहूँगा कि उन्हें हमसे भी ज्यादा दु ख है। जिन पर परिग्रह का भूत सवार है उन्हें तुम चाहो सुखी होंगे, तीन काल में भी नहीं। मनुष्य के जितना जितना परिग्रह बढ़ता जायगा उसका उतना दुख भी दिन दूना और रात चौगुना बढता जायगा और जितना कम होगा उतना ही सुख झलकेगा।

एक मनुष्यके पास गीता थी। उसके एकमात्र यही परिग्रह था। वह उसको रोज कपडेमें लपेट कर अलमारी मे रख देता था अचानक एक मूषक आता और उस कपड़ेको कुतर जाता। वह मनुष्य बडा परेशान था। उसने सोचा यदि चूहेके लिए एक बिल्ली रख ली जाय तो बड़ा अच्छा हो। अतः उसने एक बिल्ली पाल ली। अब बिल्ली के लिए दूध चाहिए तो एक गाय मोल

लेनी पड़ी। अब उस गायकी रखवालीके लिए कोई चाहिए, नहीं तो पठनपाठन कैसे हो ? अतः उसकी रखवालीके लिए एक दासी रक्खी । दासीसे उसका सम्बन्ध होगया। बाल बच्चे होगये। अब वह एक बच्चेको पीठ पर बिठाए और दूसरेको गोदीमें लिए इसी आर्त रौद्र ध्यान मे फस गया पूजा पाठ सब विस्मरण कर दिया। कहने का तात्पर्य्य यह है कि एक परिग्रहकी लालसा करनेसे देखलो वह पूरा गृहस्थी हो गया। पूजा-पाठ जो करता था वह सब जाता रहा, प्रत्युत खोटे ध्यानमे फसकर दु:खी हो गया। अतः यदि मोक्षकी ओर रुचि है, सुखकी कामना है तो परिग्रह को कम करनेका प्रयत्न करे। इच्छाओं पर कन्टोल रखे एक मनुष्य ने भूखेको रोटी दान किया। नंगेको कपड़ा दिया. निराश्रयों को आश्रय दिया और उसे सुख हुआ। वह सुख उसे कहां से हुआ ? सुख तो उसे अवश्य हुआ। उस सुखका वह अनुभव भी कर रहा है। तो वह सुख उसका अन्तरग से उमड़ा उसने विना किसीस्वार्थ के परोपकार बुद्धिसे ऐसा किया जिससे उसे इच्छाओं कषायो की मंदता करनी पड़ी इसलिए उसे सुख हुआ। तो पता चला कि जब इच्छाओं कषायों कीमदता मे उसे सुख मिला, तो जिनके इच्छाओं कषायों का पूर्ण अभाव होजाय और यदि उसे विशेष सुख मिले तो इसमे आश्चयकी कौनसी बड़ी बात है ? जितनी मनुष्य के पास इच्छाएं है उसके लिए उतने ही रोग है। एक इच्छाकी पूर्ति होगई तो वह रोग

कुछ देरके लिए शान्त होगया और उसने अपनेको सुखी मान लिया। पर परमार्थ दृष्टिसे विचारो ! क्या वह सुखी होगया? आज सुबह रोटी खाई, शाम को फिर खानेकी जरूरत पड़गई। इससे मालूम होता है कि इच्छाओं में सुख नहीं है।

एक मनुष्यके आलूका त्याग था। दूसरे मनुष्य ने उससे कहा—अबे, क्यों त्यागता है ? कहा त्यागीमे भी सुख मिला है ? वह मनुष्य तो चुप ही रहा। इतने ही में एक और आदमी आगया। उसने कहा—भाई ! त्यागमे क्यो सुख नहीं है ? उस मनुष्य ने जवाब दिया कि 'परमात्माने जितने भी पदार्थ संसारमें रचे है, वह भोगनेके लिएही हैं। भोग विलास, जब तक स्वास।' उन दोनों मे खूब वाद विवाद हुआ। अन्ततोगत्वा यह निर्णय हुआ कि इच्छाओ मे ही दुख है। जितनी जिसके पास इच्छाएँ है उतना ही उसे दुख है। उस आदमीने कहा अच्छा यदि एक इच्छा किसीके कम होजाय तो उसे सुख होगा कि नहीं। उसने कहा हा, कुछ सुख होगा। फिर उसने कहा यदि किसीके एक मात्र लगोटीकी इच्छा रह जाय तो वह उससे ज्यादा सुखी है कि नहीं ? उसने जवाब दिया वह उससे भी ज्यादा सुखी है। फिर उसने कहा यदि किसी के पास कुछ भी इच्छा न हो, दिगम्बर हो जाय, वह कितना सुखी है। तो वह बोला

कि वह सबसे ज्यादा सुखी है। बस, परिग्रह त्याग का मतलब ही यह होता है कि इच्छाओं को कम रखना। संसारमें ही देखलो, राजाकी अपेक्षा एक सन्त ज्यादा सुखी है। अतः हमारी समझ में तो जिसने अपनी इच्छाओं को वश कर लिया वही सुखी है। विशेष तो कुछ हम जानते नहीं।

उदयशंकर था। वह स्त्रीमें पूर्ण आसक्त था। एक दिन उसका साला स्त्रीको लेनेके वास्ते आया। जब वह मायकेको जाने लगी तब आप भी उसके साथ हो लिया। मार्गमें चलते चलते एक मुनिराज मिले जो एक शिला पर शान्ति मुद्रासे ध्यान लगाए तिष्ठे थे। मुनिको देखते ही उसका हृदय शान्त होगया। और उसके पास पहुंचकर वन्दनामें ही मगन हो गया। उधरसे उसका साला यह सब देख रहा था। वह पास आकर बोला क्या तुम मुनि होगए? उसने कहा—यदि हम मुनि हो जावें तो तुम भी मुनि हो जाओगे। सालेने सोचा जो पुरुष स्त्रीका इतना लम्पटी है वह क्या मुनि होगा? वह बोला अच्छा तुम हो जाओ तो मैं भी हो जाता हूं। ऐसा कहना था कि झट उसने कपड़े उतार कर फेंक दिये और दीक्षा ले ली। अब वह साला क्या करता, आखिर उसे भी मुनि होना पड़ा। दूरसे स्त्री खड़ी हुई यह तमाशा देख रही थी। वह विचार करने लगी पति भी मुनि होगया, भाई भी होगए। अब मैं गृहस्थीमें रहकर ही क्या करूंगी? अन्त में वह भी आर्यिका हो गई। यह सब क्या है? परिणामों की ही

तो विचित्रता है। मनुष्य के परिणामों के पलटनेका कोई समय नियत नहीं, न मालूम किसके कब भाव पलट जाएं, कोई नहीं कह सकता।

प्रद्युम्नकुमार जब विरक्त हुआ तो सारी सभामें जहांपर वसुदेव वासुदेव और बलभद्र आदि बैठे हुए थे कहता भया—न हम तुम्हारे है, और न तुम हमारे। तुम हमारे शरीरके पिता थे और हम तुम्हारे पुत्र। आज हम संसारसे उदासीन हुए हैं। वासुदेव कहने लगे—'अबे क्या बकता है, कलका छोकरा हमको समझाने आया है।, फिर प्रद्युम्नजी बोले—अच्छा तो तुम्हीं यहांके खभ बने रहो। अब हमतो जाते हैं। रनवास मे आकर स्त्रीसे बोले—हम तो दीक्षा लेते हैं। स्त्री बोली तुम यहा आये क्यों? क्या यहां लड़के का विवाह था या लड़की का? तुम दीक्षा ग्रहण करो या मत करो। मैं तो यह लो आर्यिका होगई। दासीसे कहा लाओ सफेद धोती। तो यह सब परिणामोंकी ही महिमा है। कहते है चक्रवर्ती छह खडका अधिपति था पर जब विरक्त हुआ तो सारी विभूतिको यों लात मार दी कि मुंह फेर कर नहीं देखा। परिणामों में जब विरक्तता समा जाती है तो दुनिया की ऐसी कोई शक्ति नहीं जो मनुष्यके हृदय को पलट दे उसे विरक्त होनेसे रोक ले। इसीलिए कहा है सम्यक परिणामों की सबलता ही मुक्ति-रमासे मिलानेवाली दूती है।,

प्रवचनसारके चरित्राधिकारमे लिखा है कि एक मनुष्यको जब वैराग्य उत्पन्न हुआ तो उसने सकल स्वजनोंको बुलाकर कहाः—

"अहो इदं जन-शरीर-जनकस्यात्मन् अहो इदं जन-शरीर जनन्या आत्मन् अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्या जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीतं तत् इममात्मानं युवां विमुञ्चतं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञान-ज्योतिः आत्मानत्मेवासनो अनादिजनकमुपसर्पति।

अपने पितासे कहताहै कि देखो तुम हमारे शरीरको पैदा करनेवाले हो, हमारी आत्मा के नहीं। अब हमे वैराग्य उत्पन्न हुआ है तुम हमे मत रोकना। पुत्र को बुलाकर कहता है कि देखो बेटा, न तो हम तुम्हारे पिता हैं और न तुम हमारे पुत्र माता का रुधिर और हमारे वीर्यसे यह तुम्हारा शरीर उत्पन्न हुआ है। तुम्हारी आत्मा बिल्कुल स्वतंत्र है। अतः हमे वैराग्य हुआ है तो हमसे ममत्व भाव छोड़ो। अपनी स्त्रीसे आकर कहता है देखो तुम हमारे शरीरको रमण करने वाली थीं। हमारी आत्माको नहीं। और हम भी तुम्हारे शरीर को रमण करने वाले थे। अतः हमे वैराग्य हुआ है तो तुम बीचमे मत पड़ना। अब यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पंचाचारों से सहित निःशल्य हुआ एक अखण्ड टंकोत्कीर्ण शुद्धात्मा को ध्याता है।

अतः मनुष्यके लिए एक शुद्धात्मा का ही अवलम्बन है।

उसीके लिए देखो यह सारा प्रयास है। और परिणामोंमे जितनी चचलता होती है, यह सब मोहोदयकी कल्लोल माला है। उससे कोई काम क्रोधादि विकारी भाव नहीं। यदि क्रोध आत्माका होता तो फिर क्यों कहते कि हमसे गलती हो गई, क्षमा करो। इससे मालूम होता है कि वह तुम्हारी आत्मा का विभाव भाव है।

एक मेहतरानी किसी स्थानपर झाड लगा रही थी। निकट ही एक तापसी बैठा था। झाड् लगाते समय कुछ धूलके कण उस तापसी पर भी पडे। वह तुरन्त ही क्रोधित हो गया और बोला—'ए मेहतरानी! क्या करती है?' वह बोली—झाड़् लगाती हूं।'

'तुझे दिखता नहीं है?'
'तुझे तो दिखता है'
'अरी, बड़ी चांडालनी है'
'अरे, मेरा पति तो तेरे घट मे बैठा है'
'क्या बकती है?'
'ठीक कहती हूँ,

इतनेमे दस पाच और आदमी इकट्ठे होगए। दोनोंमे खूब वाद विवाद हुआ। अन्तमे उससे मेहतरानीने कहा—'देखो चाण्डाल क्रोध तुम्हारे घटमे बैठा है या नहीं।'

कोई कहता है कि हमे क्षमा नहीं आती। बहुत शास्त्र पढ़ते है, सभामे श्रवणभी करते है, पर क्षमा मालूम ही नहीं पड़ती। मै तो कहता हूँ कि क्षमा तीन कालमे नहीं आसक्ती। चाहे खूब माथा-पच्ची करो। बड़े बड़े लम्बे पोथगे शास्त्रो को बाच डालो, क्षमा यो कदापि नहीं आ सकती। हां, क्रोध छोड़ दो, क्षमा स्वत. आ जायगी। क्षमा कहीं शास्त्रो मे नहीं धरी, वह तो आत्माकी चीज हैं और आत्माकी चीज आत्मामे ही मिल सकती है। केवल क्रोध छोड़नेकी आवश्यकता है।

लक्ष्मण परशुराम सवादमे परशुराम लक्ष्मणसे कहते है कि हटजाओ मेरे सामने स।' तब लक्ष्मण उत्तर देते है 'मूदहु आख कतहु कोऊ नाहीं। कर विचार देखहु मन माहीं।' आँख मीच लो कोई यहा नहीं है। तो बस आख मीच लो। हमारे कोई राग द्वेष नहीं। राग-द्वेष तो आत्माके विभाव भाव है। उनको हटा दो। अरे, अग्निका सयोग पाकर के जल मे उष्णपना है। जलको ठडा करनेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु उसका उष्णपना मिटादो। जल स्वतः ठंडा हो जायगा। वैसे ही आत्माको शुद्ध स्वभाव मे लानेकी चेष्टा मत करो बल्कि विभाव भावो को मिटादो। आत्मा स्वतः अपने स्वभावमे आ जायगी। अतः राग-द्वेषको हटानेकी आवश्यकता है। इस प्रकार स्वात्मा के शुद्ध स्वरूपकी भावना करता हुआ सम्यग्ज्ञानी आगामी कर्म

बन्धनमे नहीं पड़ता है। अब बचे पूर्वबद्ध-कर्म हैं वह तो अपना रस देकर खिरेंगे ही उसको यो चुटकियों मे भोग लेता है। इस तरह यह मोक्षार्थी पथिक मुक्तिके पथपर निरन्तर अग्रसर होता हुआ अपनी मंजिलका मार्ग तय कर लेता है और सदाके लिए शाश्वत सुखमे मगन हो जाता है।

आगे सम्यक्त्वका विशेष वर्णन करते हुए कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि वास्तवमे एक टंकोत्कीर्ण अपनी शुद्धात्मा को ही अपनाता है। वह किन्हीं पर पदार्थों पर दृष्टिपात नहीं करता। अरे, जिसके पास सूर्यका उजाला है, उसे दीपक की क्या आवश्यकता ? उसकी केवल एक शुद्ध-दृष्टि ही रहती है। और संसारमे ही देखो—पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म और खान-पान के सिवाय है क्या ? इसके अतिरिक्त और कुछ है तो बताओ। सब कुछ इसी मे गर्भित है।

अब बतलाते है कि भोग तीन तरह का होता है—अतीत, अनागत और वर्तमान। सम्यग्दृष्टि के इन तीनोंमें से किसीकी भी इच्छा नहीं होती। अतीत में जो भोग भोग लिया उसकी तो वह इच्छा हीं नहीं करता। वह तो भोग ही चुका। अनागत मे वह वाछा नहीं करता कि अब आगे भोग भोगूंगा और प्रत्युत्पन्न कहिए वर्तमान मे उन भोगों को भोगने में कोई राग बुद्धि नहीं है। अंतः इन तीनों कालोंमे पदार्थोंके भोगनेकी उसके सब प्रकार

से लालसा मिट जाती है। अतीतमे भोग चुका, अनागतमे वांछा नहीं और वर्तमानमे राग नहीं तो बतलाओ उसके बंध होय तो कहासे होय? क्या सम्यग्दृष्टि भोग नहीं भोगता? क्या उसके राग नहीं होता? राग करना पडता है पर राग करना नहीं चाहता। उसकी रागमे उपादेय बुद्धि मिटजाती है। वह रागको सवथा हेय ही जानता है। पर क्या करे, प्रतिपक्षी कषाय जो चारित्रमोह बैठा है उसका क्या करे? उसको उदासीनतासे सहन कर लेता है। उदयमे आओ और फल देकर खिर जाओ। फल देना बंध का कारण नहीं है। अब क्या करे जो पूर्व-बद्ध कर्म है उसका तो फल उदयमें आएगा ही परन्तु उनमे राग द्वेष नहीं। यदि फल ही बधका कारण होना तो कभी भी मुक्ति प्राप्ति नहीं होती। इससे मालूम हुआ कि राग द्वेष और मोह बंध का कारण है।

अब देखो भइया! योग और कषाय ये दो ही तो चीजें है उसमे योग बंधका कारण नहीं कहा, बंध का कारण बतलाया है कषाय। कषाय से अनुरजित प्राणी ही बंधनको प्राप्त होता है। देखिए १३ वें गुणस्थानमे केवलीके योग होते हैं, हुआ करो परन्तु उनमे कषाय नहीं मिली इसलिए अबंध है। अब देखो, ईंट पर ईंट धरकर मकान बना तो तो जब तक उसमे चूना न हो। आटेमे पानी मत डालो देखें कैसे रोटी हो जायगी? अग्नि

पर पानीसे भरी हुई बटलोई रक्खी है। अब ठलवल खलबल हो रही है। तो क्या होता है—जबतक उनमें चावल न हों। एव बाह्यमे समवसरण आदि विभूति है पर अन्तरगमे कषाय नहीं है—तो बताओ कैसे वध होय? तो मालूम पडा कि कषाय ही बंध को करानेवाली है। सम्यग्दृष्टिको कषायोंसे अरुचि हो जाती है। इसीलिए उसका राग-रस वजन-शील स्वभाव हो जाता है। अब देखिए तुम हमसे मिले। मिले तो सही पर अन्तरगसे यही चाहते रहे कि कब यह बला टल जाय? उससे मिलनेकी इच्छा ही नहीं होती। हम आपसे पूछते हैं, क्या वह मिलनेमे मिलना हुआ? ऊपरसे मिला पर अन्तरगसे जैसा मिला वैसा ही नहीं मिला। वैसे ही भइया, सम्यक्त्वीको रागादिकों से अत्यन्त अरुचि हो जाती है। वह किसी पर-पदार्थकी इच्छा ही नहीं करता। इच्छा करे तो होता क्या है? वह अपनी चीज होय न जब। अपनी चीज होय तो उसकी इच्छा करे। इच्छाको ही वह परिग्रह मानता है। और परिग्रह है क्या चीज? पर-पदार्थ तो तुम्हारे कुछ होते नहीं। लोक क्या है? छहद्रव्योंका समुदायही तो है। 'सब द्रव्य स्वत' अपने २ स्वभावमे परिणमन कर रहे है। कोई किसीके पधीन नहीं होता।' पर मोहसे हम उसे मान लेते हैं कि यह तो हमारी है। क्या वह तुम्हारी हो जाती है? सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थोंको तो जुदा समझता ही है पर अन्तरंग परिग्रह जो रागादिक है उनकोभी वह हेय ही जानता है, क्योंकि

बाह्य-वस्तुको अपना माननेका कारण अन्तरंग के परिणाम ही तो है। यदि अन्तरंगमे छोड़ दो बाह्य वस्तु तो स्वतः छूटी ही है सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थों की चिन्ता नहीं करता, वह उसके मूल कारण को देखता है। इसीलिए सम्यग्दृष्टिकी परिणति अटपटी हो जाती है। वह बाह्यमे कार्य करता अवश्य है पर अन्तरंगमे कुछ और ही रटना लगी रहती है। उसके अन्तरंगमे मिश्री ही घुला करती है। अत सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी में बड़ा अन्तर हो जाता है। सम्यक्त्वी को अन्तरंग दृष्टि होती है तो मिथ्यात्वी की बहिर्दृष्टि सम्यक्त्वी संसारमे रहता है पर मिथ्यात्वीके हृदय मे संसार रहता है। जलके ऊपर जब तक नाव है तब तो कोई विशेष हानि नहीं, पर जब नाव के अन्दर जल बढ़ जाता है तो वह डूब जाती है एक रईस है तो दूसरा सईस, रईसके लिए बग्गी होती है तो बग्गी के लिए सईस। मिथ्यात्वी शरीरके लिये होता है तो सम्यक्त्वीके लिये शरीर। दोनो बहिरे होते है,। वह उसकी बात नहीं सुनता और वह उसकी नहीं सुनता। वैसे ही मिथ्यात्वी सम्यक्त्वी की बात नहीं समझता और सम्यक्त्वी मिथ्यात्वी की। वह अपने स्वरूपमे मग्न है और वह अपने रंगमे मस्त है।

देखिये जो आत्मा और अनात्माके भेदों को नहीं जानता वह आगममे पापी ही बतलाया है। द्रव्यलिंगी मुनिको ही देखो

यह बाह्यमे सब प्रकार की क्रिया कर रहा है। अट्ठाईस मूल गुणों को भी पाल रहा है। बड़े बडे राजे महाराजे नमस्कार कर रहे है। कषाय इतनी मंद है कि घानीमे भी पेल दो तो त्राहि न करे। पर क्या है? इतना होते हुए भी यदि आत्मा और अनात्माका भेद नहीं मालूम हुआ तो वह पापी ही है। चरणानुयोग की अपेक्षासे अवश्य मुनि है पर करणानुयोगकी अपेक्षा से मिथ्यात्वी ही है। उसकी गति नवग्रैवेयिकके आगे नहीं। ग्रैवेयिकसे च्युत हुआ और फिर वहीं पहुँचा। फिर आया फिर गया। इस तरह उसकी गति होती रहती है।

एक मनुष्य था, भइया! उसने एक विद्या सिद्ध की जिसके फल स्वरूप एक देव प्रकट हुआ। देवने कहा—'क्या चाहता है?' पर एक शर्त है--यदि तू मुझे काम नहीं बतलाएगा तो मैं तुझे मार डालूंगा। उस मनुष्यने स्वीकृति देदी और अपने सब कार्य करवा लिए। जब कोई काम शेष न रहा तब देवने कहा 'काम बतलाओ' अन्यथा मारता हूं। वह मनुष्य बोला अच्छा, एक रस्सी की सीढिया बनाओ। उसपर चढो और उतरो। वह उसी माफिक उतरने चढ़ने लगा अन्तमे हाथ जोडे और बोला 'तुम जीते मैं हारा' वैसे ही द्रव्यलिङ्गी चढ़ता उतरता रहता है पर भावलिंगी एक दो भवमें ही मोक्ष चला जाता है। तो कहने का प्रयोजन यह है कि सम्यक्त्वी उस अनादिकालीन ग्रन्थि को--जो आत्मा और अनात्माके बीच पड़ी हुई थी अपनी प्रज्ञारूपी छेनीसे

छेद डालता है। वह सबको अपनेसे जुदा समझता हुआ अन्तरंगमे विचार करता है 'सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहम् अर्थात् मैं सहजशुद्ध-ज्ञान और आनन्द एक स्वभावरूप हूं। एक परमाणु मात्र मेरा नहीं है।' उसकी गति ऐसी ही हो जाती है जैसे जहाजका पक्षी—उड़कर जाय तो बताओ? कहाँ जावे। इस ही को एकत्व एवं अद्वैत कहते है। 'संसारमे यावत् जितने पदार्थ हैं वह अपने स्वभावसे भिन्न है।' ऐसा चिंतवन करना वही तो अन्यत्व भावना है। अतः सम्यक्त्वी अपनी दृष्टिको पूर्णरूपेण स्वात्मा पर ही केन्द्रित कर देता है।

देखिये मुनि जब दिगम्बर हो जाते हैं तो हमको ऐसा लगता है कि कसे परीवह सहन करते होंगे? पर भइया! हम रागी और वे वैरागी। उनकी हमारी क्या समता? उनके सुखको हम रागी जीव नहीं पा सकते। सुकुमालस्वामीको ही देखिए। स्यालिनीने उनका उदर विदारण करके अपने क्रोधकी पराकाष्ठाका परिचय दिया, किन्तु वे स्वामी उस भयंकर उपसर्गसे विचलित न होकर उपशमश्रेणीद्वारा सर्वार्थसिद्धिके पात्र हुए। तो देखो यह सब अन्तरंगकी बात है। लोग कहते हैं कि भरतजी घर हीमें वैरागी थे। अरे, वह घरमे वेरागी थे तो तुम्हे क्या मिल गया? उनकोशान्ति मिली तो क्या तुम्हें मिल गई? उनने लड्डू खाये तो क्यातुम्हारा पेट भर गया? अरे, यों नहीं 'हमही घर वैरागी' ऐसी रटना लगाओ। यदि तुम घर ही वैरागी बनकर रहोगे तो तुम्हे

शान्ति मिलेगी। उनकी रटना लगाए रहो तो बताओ तुमने क्या तत्व निकाला ? तत्व तो जभी है जब तुम वैसे बनोगे। ज्ञानार्णव में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि दो ही तीन हैं। तो दूसरा कहता है कि अरे, दो तो बहुत कह दिए—यदि एक ही होता तो कहते हम हैं। हम ही सम्यग्दृष्टि हैं। अतः अपने को सम्यग्दृष्टि बनाओ ऊपर से छल कपट हुआ तो क्या फायदा ? अपनेको माने सम्यग्ज्ञानी और करे स्वेच्छाचारी। यह तो अन्याय हुआ। सम्यग्दृष्टि निरन्तर अपने अभिप्रायों पर दृष्टिपात करता है। भयंकरसे भयकर उपसर्गोमे भी वह अपने श्रद्धान से विचलित नहीं होता देखो, गवर्नमेन्ट कितना ब्लेक मार्केट रोकती है पर तो भी होता ही है। वैसे ही सम्यक्त्वीको कितनी भी बाधा आए तो भी वह अपनेको मोक्षमार्गका पथिक ही मानता है।

सम्यग्दृष्टिका आत्म परिणाम

वेदकभाव—वेदनेवाला भाव—और वेद्यभाव-जिसको वेदे-इन दोनोमे काल भेद है। जब वेदक भाव होता है तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नहीं होता ऐसा होने पर जब वेदक भाव आता है तब वेद्यभाव नष्ट हो जाता है तब वेदक-भाव किसको वेदे ? और जब वेद्यभाव आता है तब वेदकभाव नष्ट हो जाता है तब वेदकभावके बिना वेद्यको कौन वेदे ? इसलिये ज्ञानी दोनोको विनाशीक जान आप जानने वाला ज्ञाता ही रहता है।

अतः सम्यक्त्वी के कोऊ चालका बंध ही नहीं होता। पर हम जब अपनी ओर दृष्टि डालते हैं तो भोगोंमे मग्न होनेके अलावा और कुछ दिखता ही नहीं है। भोग भोगना ही मानों अपना लक्ष्य बना लिया है। हम समझते है कि हम मोक्षमार्गमे लग रहे है पर यह मालूमही नहीं कि नरक जानेकी नसैनी बना रहे है।

एक मनुष्य बड़ा मूर्ख था वह हर समय अपनी मूर्खताके काम किया करता था इसीसे उस नगरके सब लोग उसे मूर्ख कहने लगे। इससे उसे बहुत दुख हुआ। उसने सोचा कि यदि मै जंगलमे चला जाऊंगा तो वहा मुझे कोई मूर्ख नहीं कहेगा। एक दिन वह घर से निकल कर जगलमे चलागया और कुए मे पैर लटकाकर उसकी पाट पर बैठ गया। इतनेमे एक आदमी आया, उसने कहा भइया तू बड़ा मूर्ख है। वह बोला, तुम्हे कैसे मालूम हुआ? तब उसने कहा तुम्हारी करतूत से। वैसे ही आचार्य कहते है कि तुम भी अपनी करतूतोंसे भोगोंमे मग्न होकर संसारमें डूब रहे हो। स्वयंभूस्तोत्रमें भगवान् सुपार्श्वनाथ की स्तुतिमे स्वामी समन्तभद्राचार्यने लिखा है:—

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां, स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा॥
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्ति-रितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः॥

स्वास्थ्य वही, जो कभी क्षीण न हो। जो क्षीणताको प्राप्त हो वह स्वास्थ्य किस कामका? और स्वार्थी पुरुषोंके भोग भी विषम एवं क्षणभगुर हैं। एकने पूछा कि जब तक भोग भोगते है तब तक उसे सुख कहो। तो कहते हैं कि वह भी सुख आतापका उपजाने वाला है, क्योंकि उसमें तृष्णारूपी रोग लगा हुआ है। अतः भोगोंसे कभी तृप्ति नहीं मिल सकती। भोगोंसे तृप्ति चाहना ऐसा ही है जैसे अग्निको घीसे बुझाना। मनुष्य भोगोमे मस्त हो जाता है और उसके लिये क्या २ अनर्थ नही करता। भोगोके लिये जो अनर्थ करे जावें थोड़े ही है। रावणको ही देखिए। वह जब सीताजीको ले जा रहा था। तब जटायु बचानेको आया। उसने एक थप्पड़ मारी, बेचारा रह गया। बतलाओ वह उस बलीसे क्या करता। वह तो भोगोंमे इतना आसक्त था कि उस भोगांधने यह विचार भी नहीं किया कि मैं इस दीन-हीन बेचारे पशुको क्यों मार रहा हूॅ, क्योंकि भोगासक्तिने उसके विवेकको जो पशु बना दिया था। इसीसे विवेक को उसके हृदयमें स्थान नहीं मिला सम्यग्दृष्टिमे विवेक है वह भोगोंसे उदास रहता है— उनमे सुख नहीं मानता। जब वह स्वर्गादिककी विभूति भी प्राप्त करता है और नाना प्रकारकी विषय-सामग्री होते हुए भी अन्तमे देवोंकी सभा मे यही कहता है कि कब मैं मनुष्य योनि पाऊ? कब भोगोंसे उदास होऊ? और नाना प्रकारकीनपश्चर्या का आचरण कर मोक्ष रमणी वरू?

ऐसी ही भावना निरतर बनी रहती है। और बताओ जिसकी ऐसी भावना निरंतर बनी रहती है क्या उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती ? अवश्यमेव होती है। इसमे सन्देहको कोई स्थान ही नहीं।

अब कहते है कि जब सम्यग्दृष्टिको पर-पदार्थोंसे अरुचि हो जाती है तब घरमे क्यों रहता है ? और कार्य क्यों करता है ? इसका उत्तर कहते है कि वह करना नहीं चाहता पर क्या करे, जो पूर्वबद्ध कर्म है उनके उदयसे करना पड़ता है। वह चाहता अवश्य है कि मैं कोई कार्यका कर्त्ता न बनूं। उसकी पर-पदार्थोंसे स्वामित्व बुद्धि हट जाती हैं पर जो अज्ञानअवस्थामे पूर्वोपार्जित कर्म है उनके उदयसे लाचारीवश होकर घर-गृहस्थीमे रहकर उपेक्षा बुद्धिसे करना पड़ता है। इसका दृष्टान्त ऐसा है कि एक सेठ था। उसके यहा चोर आए। चोरोंने उस सेठ से पूंछा कि माल कहा हैं ? पहिले तो सेठ ने नही बताया। तब चोरोंने उसके हाथमे सुई चुभो दी। सेठने भयसे अपना सारा माल बतादिया। चोरोंने वह सब माल ले लिया और उसको ऊपरसे नीचे पटक दिया। सेठ जैसे तैसे वहा से भागा और चिल्लाता गया हाय रे हाय, मैं तो लुट गया। उधरसे उसका ईमानदार नौकर आ रहा था। उसने पूछा-सेठजी ! क्या बात है ? सेठजी तुनक कर बोले अरे, चोरोंने मुझे लूट लिया। नौकर तुरन्त ही घरमें गया और उन चोरोंको पकड़ लिया। उसने आवाज देते हुए

कहा-सेठजी, आप निश्चित रहिए मैने चोरोंको पकड़ लिया है और आपका माल सब सुरक्षित है। सेठ जी हर्ष सहित अपने घर लौटे और देखा कि सब माल जहा का तहा है। बड़े प्रसन्न हुए। अब हम आपसे पूछते हैं कि सेठजी अपना माल देखकर तो प्रसन्न हुए पर जो उसके हाथ मे सुई चुभोई गई उसका दर्द तो भोगना पड़ा। जो ऊपरसे उसे पटका गया उसका दर्द तो कहीं नहीं गया। ठीक यही हाल सम्यग्दृष्टिका होता है। वह अपनी आत्माका अनाद्यनन्त अचल स्वरूप देखकर तो प्रसन्न हुआ। उसके अपार खुशी हुई। पर अज्ञानावस्थामें जो, जन्मार्जित कर्म है उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। वह बहुत चाहता है कि मुझे कुछ नहीं करना पड़े। मैं कब इस उपद्रवसे मुक्त होजाऊ ? पर करना पड़ता है, चाहता नहीं है। उस समय उसकी दशा मरे हुए व्यक्तिके समान हो जाती है। उसको चाहे जितना साज शृङ्गार करो पर उसे कोई प्रयोजन नहीं। इसी भाति सम्यक्त्वीको चाहे जितनी सुख दुख की सामग्री प्राप्त हो जाय पर उसे कोई हर्ष विषाद नहीं।

हम कहते हैं कि मनुष्य अपना श्रद्धान न बिगाड़े, चाहे जो हो जाय। सूर्य पूर्वसे चाहे पश्चिम में उदित हो जाय पर हमको अपने स्वरूपसे चलायमान नहीं होना चाहिए। जब भइया! सीता का लोकापवाद हुआ तब रामने कृतांतवक्रको बुलाकर कहा-'ले जाओ, सीताको बीहड़ वन मे छोड़ आओ।'

वह सीता महारानीको वनमें ले गया जहाँ नाना प्रकारके सिंह चीते और व्याघ्र अपना मुंह बाए फिर रहे थे। सीता ऐसे भयकर वनको देखकर सहम गई और बोली मुझे यहा क्यों लाए ? तब कृतांतवक्र कहते हैं हे महारानी जी! जब आपका लोकापवाद हुआ, तब रामने आपको वनमें त्यागनेका निश्चय कर लिया और मुझे यहा भेज दिया। उसी समय सीताजी कहती हैं कि जाओ, रामसे जाकर कह देना कि जिस लोकापवादसे तुमने मुझे त्याग कर दिया, कहीं उसी लोकोपवादके कारण तुम अपने श्रद्धानसे विचलित मत हो जाना। इसे कहते है श्रद्धान। सीताको अपना आत्मविश्वास था। क्या ऐसा श्रद्धान हम आप नहीं कर सकते ? उस तरफ लक्ष्य करे न जब। हम तो ससारमे रहना चाहे और मोक्ष भी चाहे-ऐसा कभी हुआ और न हो सकता है।

दो मुख पंथी चले न पथा, दो मुख सूई सिये न कथा।
दोऊ काम न होंय सयाने, विषय भोग अरु मोक्षहि जाने ॥

वे पंथेहिं ण गम्मइ वे मुहसुई ण सिज्जए कंथा।
विठिण ण हुंति अयाणा, इंदिय-सोक्खं च मोक्खं च ॥
—मुनि रामसिंह पाहुड दोहा

प्रथम हमारी उस तरफ रुचि होनी चाहिए। सम्यग्दृष्टिको मुक्तिकी उत्कृट अभिलाषा रहती है। उसकी परपदार्थोंसे मूर्छा (ममता) हट जाती है। तब वह अपना माननेकी भूलको सुधार लेता है और देखो मानन ही का तो सारा झगड़ा है।- एक जगह चार मनुष्य परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। एक ने दूसरेको गाली निकाली। अब वह दूसरा मनुष्य मान बैठा कि इसने यह गाली मुझको दी, इससे वह क्रोधसे आग बबूला हो गया। अब देखो, उस दूसरे मनुष्यने मात्र मान ही तो लिया कि यह गाली मुझे दे रहा है, नहीं तो जानता कि यह तो वचनरूप पुद्गल परमाणु हैं और क्रोधित नहीं होता। और भी मनुष्य वहा बैठे थे उन्होंने नहीं माना, इसलिये क्रोधित नहीं हुए। तो मनुष्य माननेमें ही आत्माका अहित कर डालता है।इन सबको हम अपनी चीज मानते हैं तभी तो विकल्प होता है–हाय रे, हाय-कहीं यह चीज चली न जाय? अच्छा, जो चीज तुमने अपनी मानो, वह तुम्हारे अन्दर तो न चली गई पर अन्दर विकल्प होता रहता है। चीज रक्खी है वहा पर, विकल्प कर रहे हैं अन्दर। और जब तुमने उससे ममत्व हटा लिया, तो दुनिया ले जाय कुछ विकल्प नहीं।

भेदज्ञानकी महिमा

एक वैश्य था भइया! वह बड़ा हट्टा कट्टा था। उसने एक क्षत्रीको पटक लिया और उसकी छाती पै बैठ गया। क्षत्रीने पूछा 'भाई तू कौन है?' उसने कहा 'मैं वैश्य हूँ।' इतना

कहना था कि झट उस क्षत्रीको जोश आ गया और एक झटका देकर उसकी छाती पर सवार हो गया। इसी तरह जब तक हम अज्ञानी थे पुद्गल द्रव्यको अपना माने हुए थे तब तक पुद्गल अपना प्रभाव जमाये हुए था और जिस काल हमारे निज स्वरूपका ज्ञान भानु (सूर्य) उदित हुआ तब सर्व अज्ञानके चिमगादड़ विला गए। हमको मालूम हो गया कि हमारा आत्मा तीन लोकका धनी है। पुद्गल हमारा क्या कर सकता है? मानने मे गलती पड़ी हुई थी वह मिटगई पुद्गलको पुद्गल और आत्मा को आत्मा जान लिया। और देखो माननेका ही संसार है। अन्धकारमे रज्जुको सर्प मान बैठे है तभी तक तो भय है। वह मानना मिटादो, आत्माको आत्मा और पुद्गलको पुद्गल जानो। आत्माको आत्मा जान लिया, तो कहीं शरीर नष्ट नहीं हो जाता। जैसे पुरुषको स्त्रीसे विरक्तताहु ई तो क्या स्त्री कहीं चली जाती है? अरे, जिस चीजसे हम स्त्रीको अपना मान रहे थे, वह चीज मिट गई। वैसे ही मोहोदयसे शरीरमे जो आत्मीय-, बुद्धि लग रही थी, वह मिट गई। भेदज्ञानको प्राप्तहोकर शरीरको शरीर और आत्माको आत्मा जानलिया। यही तो भेद विज्ञान है।

अन्यमती कहते है कि भगवान सच्चिदानन्दमय-सत् चित् आनन्दमय है सत् क्या कहलाता? 'उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त' सत् ससारमे ऐसा कोई पदार्थ है जो उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त नहीं होता, यदि होता तो बताओ। जैसे एक स्वर्णकी डली है। उसे

गलाकर कटक बना लिया। यहा डलीका तो व्यय हुआ और कटककी उत्पत्ति हुई, पर स्वर्णत्व दोनोंमें एकसा पाया गया, इसी तरह एक मनुष्य मरकर देव हुआ। यहाँ पर मनुष्य पर्याय का तो व्यय हुआ, देवपर्यायकी उत्पत्ति हुई और चेतन जीव ध्रुव हुआ, क्योंकि वह मनुष्य पर्यायमे भी था और देवमें भी है। इस तरह पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त हैं। यदि उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययुक्त पदार्थ न हों तो ससारका कोई व्यवहार ही न चले। तो सत्का कभी विनाश नहीं होता।

समारके सब पदार्थ अपने अपने स्वरूपमे हैं। कोई किसी से मिलता नहीं। और पदार्थोंकी भी तभी शोभा है जब एक दूमरे से न मिलें। यदि मिल गये तो उनका स्वरूप च्युत हो जाता है उनमे विकृति आ जाती है। आत्मा अपने स्वरूपस च्युत हुई तो देखलो संसारमे भटक रही है। अपने स्वरूपमें आने से ही शोभा है। तो सम्यग्दृष्टि अपनी आत्माके अलावा किसी पर पदार्थोंके संयोग की वाछा नहीं करता। वह सर्व पदार्थों को यहा तक कि परमाणुमात्र तकको अपनेसे जुदा समझता है। और भइया जब तक परपदार्थ को अपनाते रहोगे तब तक दान देना भी व्यर्थ है। यह निश्चय समझो। दान देते समय पदार्थोंसे ममत्व हटालो। यदि ममत्व नहीं हटाया और दान कर दिया तो मनमें विकल्पता आजायगी। कदाचित्त सोचोगे कि

हमने ५००) रु० का दान किया तो हमें आगे १०००)रु० मिले। नाना प्रकारका तपश्चरण किया तो स्वर्गमें अप्सराओंके भोग चाहोगे। अत. दान करो तो उन पदार्थोंसे मूर्छा हटालो समझो हमारी चीज ही नहीं है। ममत्व हटाया नहीं और दान कर दिया तो वह निहायत बेवकूफी है। तो यह सब अन्तरंगके विकल्प है और कुछ नहीं। किसी दीन को देखकर तुम्हें करुणा आई और अन्दर विकल्प हुआ कि कुछ देना चाहिए। अत. देने की आकुलता हो गई। और जब तक नहीं दोगे, तब तक वह आकुलता न मिटेगी। दूसरोंको दान करते हो तो तुम अपनी आकुलता मेटनेके वास्ते करते हो और जिसके आकुलता नहीं होती, तो वह कह देते है कि "चल चल यहांसे।" अतः आकुलतासे ही दान दिया जाता है। उसी तरह दया, क्षमा, यम सयमके भाव भी आकुलतामय हैं। देखो, आचार्योंको संसारके प्राणियों पर दया आई तभी तो द्वादशाग वाणीकी रचना हुई किन्तु यथार्थ दृष्टिसे विचार करो, को आचार्यने यह कार्य परके अथ नहीं किया, किन्तु संज्वलन कषायके उदयमें उत्पन्न हुई वेदनाके प्रतिकारके अर्थ ही उनका यह प्रयास हुआ। परको तत्व ज्ञान हो, यह व्यवहार है और यह सब छठे प्रमत्त गुणस्थान में होता है। अप्रमत्तमें और आगे तो कोई आकुलता ही नहीं। इससे साबित हुआ कि वह एक निर्विकल्प भाव है।

उस आत्मामें कोई प्रकारके मोहादिक भाव नहीं। मोहका

प्रपञ्च ही अखिल ससार है। अब देखिए, आदिनाथस्वामी के दो ही तो स्त्रियाँ थीं नन्दा और सुनन्दा। उन दोनोंको त्याग कर वन मे भागना पड़ा। क्यों ? घरमे नहीं रह सकते थे। यदि कल्याण करना अभीष्ट है तो भागो यहासे, वनका आश्रय लो। अरे, क्या घर में कल्याण नहीं कर सकते थ ? नहीं। स्त्रियोंका जो निमित्त था। कल्याण कैसे कर लेते। मोह की सत्ता जो विद्यमान है। वह तो चुनवुली मचाए दे रहा है। कहता है जाओ वनमे। अरे, किसी वगीचे मे ही चले जाते, नहीं। कारण कूट बड़ी चीज है। वनमें ही जाओ छ महीनेका मौन धारण करो। एक शब्द नहीं वोल सकते। और छ महिने का अन्तराय हुआ यह सब क्या मोह की महिमा नहीं है। अच्छा, वहा घरसे तो दो ही स्त्रियाँ छोड़ीं और समवशरणमे हजारों लाखों स्त्रियाँ बैठी हैं, तब वहां से नहीं भागे। इसका कारण यही, कि यहा मोह नहीं था। और वहा मोह था, तो जाओ वन में, धरो छः महीने का योग। अतः मोहकी विलक्षण महिमा है।

मोहसे ही ससार का चक्र चल रहा है। यह कम ही मनुष्यों पर सर्वत्र अपना रौब गालिब किए हुए है। इसके नशे मे मनुष्य क्या २ वेढव कार्य नहीं करता। यहा तक कि प्राणान्त तक कर लेता है। जब स्वर्गमे इन्द्र अपनी सभामे देवोंसे यह कह रहा था कि इस समय भरतक्षेत्रमे राम और लक्ष्मणके समान स्नेह और किसीका नहीं। उसी समय एक देव उनकी

परीक्षाके हेतु अयोध्यामे आया। वहां उसने ऐसी विक्रिया व्यीाप्त करी कि नगरका सारा जनसमूह शोकमय दिखाई पड़ने लगा। नर नारी अत्यधिक व्याकुल हुए, ऐसे रुदनमय शब्द करते हुए कि जो श्री रामचन्द्रका देहावसान हो गया। जब यह भनक लक्ष्मणजी के कर्ण पुटमे पडी तो अचानक लक्ष्मणके मुखसे 'हा राम' भी पूर्ण नहीं निकला कि उनका प्राणान्त हो गया। यह सब मोहकी विलक्षण महिमा ही है। 'यह ऐसा है वैसा नहीं है यह ऐसा पीछे है वैसा पीछे नहीं था ऐसा आगे है वैसा आगे नहीं होगा' मोहमे ही करता है। मोहमे ही तो सीता का जीव रामसे आकर कहता है कि स्वर्गमे हमारे पास आ जाना। यह मनुष्यका भयंकर शत्रु है मोक्षमार्गसे विपरीत परिणमन कराता है। अतः यदि मोक्षकी ओर रुचि है तो भूरिश. विकल्पजालोंको त्यागो। मोहको जैसे बने कम करनेका उद्यम करो। यदि पंचेन्द्रिय-विषयो के सेवनमे मोह कम होता है तो वह भी उपादेय है और यदि पूजा दानादि करनेमें मोह बढ़ता है तो वह भी उस दृष्टि से हेय है। दुनियां मोह करे कभी इस मे मत फसो। कोई भी तुम्हें मोह में नहीं फसा सकता। सीताके जीवने सोलहवें स्वर्ग से आकर श्रीरामचन्द्रको कितना लुभाया पर वह मोहको नाश कर मोक्षको गए।

अतः इससे भिन्न अपनी ज्ञान स्वरूपी आत्माको जानो। 'तुष मास भिन्न' मुनिको आत्मा और अनात्माका भेद मालूम पड़

गया, तो देखलो केवली होगए। द्वादशांगका तो यही सार है कि अपने स्वरूपको निहारो और उसमे अपनेको ऐसे रमालो जैसे नमककी डली पानीमे घुल-मिल जाती है। उपयोगमे दत्तचित्त हो जाओ—यहां तक कि अपने तन-मनकी भी सुध-बुद्ध न रहे। और, देखो उपयोगका ही सारा खेल है। अपने उपयोगको कहीं कहीं स्थिर रखना चाहिये जिस मनुष्यका उपयोग डावाडोल रहता है वह कदापि मोक्षमार्गसे प्रवर्तन नहीं कर सकता। एक मनुष्यने दूसरेसे कहा कि मेरा धर्ममे मन नहीं लगता। तब दूसरेने पूछा कि तेरा मन कहा और किसमे लगता है ? वह बोला मेरा मन खानेमे अधिक लगता है। तो दूसरा कहता है—अरे, कहीं पर लगता तो है। मैं कहता हू कि मनुष्यका आर्त-रौद्र परिणामों मे ही मन लगा रहे। कहीं लगा तो रहता है। अरे, जिसका आर्त परिणामोंमे मन लगता है वही किसी दिन धर्म से भी मन लगा सकता है। उपयोगका पलटना मात्र ही तो है।

एक विश्व-प्रसिद्ध गणितज्ञ था। उसके दैवयोगसे गर्दनमे फोड़ा होगया। वह अस्पताल मे गया और डाक्टरको उसे दिखाया। डाक्टर ने कहा तुम्हे दवा सुँघाई जायगी और बेहोश करके फोडा चीरा जायगा। उसने कहा—नहीं ऐसा मत करो। तुरन्त ही एक बोर्ड मगवाया और उस समय ही जर्मनसे जो एक प्रश्न आया उसको उस बोर्ड पर लिख दिया और कहा-हा,

अब फोड़ा चीरो। डाक्टरने वह फोड़ा चीर दिया और जब वह पट्टी बाध रहा था उसी समय उसका प्रश्न हलहो गया। तब वह कहता है डाक्टर, यहा जरा चिनमिनाहट सी मच रही है।' यह भइया, उपयोग है ऐसा हो उपयोग यदि आत्मामे लग जाय तो कल्याण होनेमें कुछ विलम्ब न लगे।

आपके मोक्षमार्ग-प्रकाशकके रचयिता स्वर्गीय प० टोडरमल जी थे। जब वह एक ग्रन्थकी रचना कर रहे थे तो मां ने एक दिन उनकी परीक्षा करनी चाही। उसने शाकमे नमक नहीं डाला। मल्लजी सा० घर आते और खानपीनसे निवृत्त होकर फिर स्वकार्य मे लग जाते। इसी तरह छः मास पर्यंत मां ने नमक नहीं डाला। जब ग्रन्थ पूर्ण हो चुका और वह खाने बैठे तो मा से बोले मा! आज शाकमे नमक नहीं है।' मां बोली—बेटा, मैंने तो छः मही ने तक नमक नहीं डाला आज तुझे कैसे मालूम हुआ। तो भइया यह उपयोग है। यही उपयोग मोक्षमार्गमें साधक है। धन्य है उस उपयोगको जो केवल अन्तमुहूर्तमे सम्पूर्ण कर्मो का क्षय कर इस आत्मामे केवल ज्ञानका प्रसार करता है

शास्त्रोंमे सम्यक्त्वीको पहिचाननेके लिए चार लक्षण बताए है १. प्रशम २. सवेग ३. आस्तिक्य और ४. अनुकम्पा। ये लक्षण बाह्यकी अपेक्षा कहे हैं। वैसे सम्यक्त्वीको विषयोंसे अरुचि हो जाती है; यह प्रकट है। पर क्या करे अनादिकालकी

जो आदत पड़ी हुई है-उसका क्या करे। वह भोग अवश्य भोगता है पर देखा जाय तो उन विषयोंमे उसके शिथिलता आ जाती है किसीने कदाचित् उनका अपराध भी किया, तो उसके बदला लेनेके भाव कदापि नहीं होते। युद्धभूमिमे वह हजारों योद्धाओंसे युद्ध भी करता है पर क्या वह ऐसा अन्तरगसे चाहता है कि उसे युद्ध करना पड़े ? कविवर पं० दौलतरामजीने ठीक कहा है.-

चिन्मूरति दृगधारी की मोहि, रीति लगत है अटापटी।
बाहिर नारकिकृत दुख भोगै, अन्तर निजरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि सग पै तिस, परिणतितै नित हटाहटी।

वास्तवमे उसकी रीति अटपटी होजाती है। नरकमैं नारकियों द्वारा नाना प्रकारके दुःख भोगता है, पर अन्तरगमे उसके मिश्री ही घुला करती है। अनेक देवागनाओंके समूहोंमे रमण करता हुआ भी नित्य उस परिणतिसे हटना चाहता है।

राजवार्तिक मे लिखा है कि हिसाको दूर करनेका कौनसा उपायहै। उत्तरमें कहा कि जो प्रयोग तुम दूसरों पर करना चाहते हो उसका प्रयोग पहिले स्वय अपनी आत्मा पर करो। जैसे सुईके चुभोनेसे अपनेको दर्दका अनुभव होता है तोक्या दूसरों पर तलवार चलानेमें उनको दर्दका अनुभव नहीं होता ? अवश्य होता है। हिंसाको मिटानेका यही उपाय है। और क्या है ?

अब सप्त भयोंका वर्णन करते हुये बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि को उनमेंसे किसी प्रकारका भय नहीं। पहला इह-लोक भय है सम्यग्दृष्टिको इस लोकका भय नहीं होता। वह अपनी आत्माके चेतनालोकमें रहता है। और लोक क्या कहलाता है? जो नेत्रों से सबको दीख रहा है। उसे इस लोकसे कोई मतलब नहीं रहता। वह तो अपने चेतना लोकमें ही रमण करता है। लोकमें भी भइया! तब भय होता है जब हम किसीकी चीज चुराएं। परमार्थदृष्टिसे हम सब चोर हैं जो परद्रव्योंको अपनाए हुए हैं। उन्हें अपना मान बैठते हैं। सम्यग्दृष्टि परमाणु मात्रको अपना नहीं समझता। इसलिए उसे किसीभी प्रकार इस लोकका भय नहीं होता। दूसरा परलोक भय है। उसे स्वर्ग नरकका भय नहीं। वह तो अपने कर्तव्यपथ पर आरूढ है। उसे कोई भी इस मार्गसे च्युत नहीं कर सकता। वहतो नित्यानन्दमयी अपनी ज्ञानात्माका ही अवलोकन करता है। यदि सम्यक्त्वके पहिले नरकायुका बंध कर लिया हो तो नरककी वेदना भी सहन कर लेता है। वह अपने स्वरूपको समझ गया। अतः उसे परलोकका भी भय नहीं होता। अब तीसरा वेदना भय है। वह अपनी भेद-विज्ञानकी शक्तिसे शरीरको जुदा समझता है और वेदनाको समतासे भोग लेता है। जानता है कि आत्मामें तो कोई वेदना है ही नहीं इसलिए खेद-खिन्न नहीं होता। इस प्रकार उसे वेदना का भय नहीं होता। चौथा है अनरक्षाभय। वह किसीको भी अपनी रक्षा के योग्य नहीं समझता। अरे इस आत्माकी रक्षा

कौन करे ? आत्माकी रक्षा आत्मा ही स्वयं कर सकता है। वह जानता है कि गढ़, कोट, किले आदि कोई भी यहा तक कि तीनों लोकोंमे भी इस आत्माका कोई शरण स्थान नहीं। गुफा, मसान, शैल, कोटरमें वह निःशंक रहता है। शेर, चीते, व्याघ्रों आदिका भी वह भय नहीं करता। आत्माकी परपदार्थोंसे रक्षा हो ही नहीं सकती। अतः उसे अनरक्षा भयभी नहीं। अगुप्तिभयमे व्यवहार में माल असबाबके लुट जानेका भय रहता है तो सम्यक्त्वी निश्चयसे विचार करता है कि मेरा ज्ञान धन कोई चुरा नहीं सकता। मैं तो एक अखंड ज्ञानका पिंड हूँ। जैसे नमक खारेका पिंड है। खारेके सिवाय उसमें और चमत्कार ही क्या है। वैसे ही इस आत्मामें चेतनाके सिवाय और चमत्कार ही क्या है ? यह चेतना हर समयमे मौजूद बनी रहती है। ऐसा ज्ञानी अपनी ज्ञानात्माके ज्ञानमे ही चिंतवन करता रहता है। एक होता है आकस्मिक भय। वह किसी भी आकस्मिक विपत्तिका भय नहीं करता। भय तो तब करे जब भयकी आशंका हो। उसकी आत्मा निरन्तर निर्भय रहती है। अतः उसे आकस्मिक भय भी नहीं होता। और एक मरण भय होता है मरण क्या कहलाता ? दस प्राणोंका वियोग हो जाना ही तो मरण है। पाच इन्द्रिय तीन बल, एक आयु और एक श्वासोच्छ्वास इनका वियोग होते ही मरण है,। परन्तु वह अनाद्यनंन्त, नित्योद्योत, और ज्ञान स्वरूपी अपनेको चिन्तवन करता है। एक चेतना ही उसका प्राण है। तीन कालमें उसका वियोग नहीं होता। अत चेतना-मयी

ज्ञानात्मक ध्यानसे उस मरणका भी भय नहीं होता। इस प्रकार सात भयोंमें से वह किसी प्रकार का भय नहीं करता। अतः सम्यग्दृष्टि पूर्णतया निर्भय है।

अब सम्यक्त्वके अष्ट अंगोंका वर्णन करते हुए बतलाते है कि सम्यक्त्वीको ये अंग भी पूर्णतया पालनीय हैं। पहला है निःशंकित। उसे किसी प्रकारकी भी शंका नहीं रहती। वह निधड़क होकर अपने ज्ञानमें ही रमण करता है। सुकौशल स्वामी को व्याघ्री भक्षण करती रही, पर वह निःशंक होकर अंत-मुहूर्त मे केवलज्ञानी बने। शकाको तो उसके पास स्थान ही नहीं रहता। उसे आत्माका स्वरूप भासमान हो जाता है। अतः निःशकित है। दूसरा है निःकांक्षित, आकांक्षा करे तो क्या भो-गों की, जिनको वर्तमान मे ही दुखदायी समझ रहा है। वह क्या लक्ष्मीकी चाहना करेगा? अरे, क्या लक्ष्मी रांड कहीं भी स्थिर होकर रही है? तुम देखलो जिस जीवके पुण्योदय हुआ उसीके पास दौड़ी चली गई। अतः ज्ञानी पुरुष तो इसको स्वप्नमें भी नहीं चाहते। वे तो अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्रमई आत्माका ही सेवन करते है। निर्विचिकित्सा तीसरा अंग है। सम्यग्दृष्टिको ग्लानितो होती ही नहीं। अरे, क्या मलसे ग्लानि करे? मलतो प्रत्येक शरीरमे भरा पड़ा है। तनिक शरीरको काटो तो सिवाय ग्लानिके कुछ नहीं।

प्रो० इश्वरचन्द विद्यासागर जब कालेज जारहे थे तो रास्तेमें

एक नौकरको वमन करते देखा। उन्हें उसपर दया आ गई और अपने कंधे पर बिठलाकर घरमें ले आए। डाक्टरको उसी समय टेलीफोन किया कि एक आदमीको हैजेकी बीमारी है अतः तुरत चले आओ। डाक्टरके आने पर वह अपनी माता और स्त्रीसे कह गया कि इसकी खूब सेवा करना। जब वह आदमी अच्छा हो गया तो विद्यासागरने उसे लेजाकर उसके मालिकके सुपुर्द किया जिसका वह नौकर था और कहा कि अब इसकी तबियत अच्छी है इसे अपने पास रखलो। वह मालिक ईश्वरचन्द्रको देखकर बड़ा लज्जित हुआ। तब विद्यासागरने कहा—'कोई बात नहीं है, तुम्हें फुरसत नहीं होगी। मैंने इसका इलाज कर दिया है।' तब उस मालिकने उसके नामसे दस हजार रुपये जमा कराए और उससे कहा— तुम हमारी देहली पर बैठे रहा करो, तुम्हारे वास्ते और कुछ काम नहीं है। और उसको ५०) रुपये मासिक बाँध दिये। तो यह है निर्विचिकित्सा अङ्ग। किस पदार्थमें ग्लानि करे ? सब परमाणु स्वतन्त्र हैं। मुनि भी देखो भइया! किसी मुनिको वमन करते देखकर ग्लानि नहीं करते और अपने दोनों हाथ पसार देते है। अतः सम्यग्दृष्टि इस निर्विचिकित्सा अङ्गका भी पूर्णतया पालन करता है। चौथा अङ्ग है अमूढदृष्टि। मूढदृष्टि तो तभी है जब पदार्थोंके स्वरूपको कोई न समझे—अनात्मामें आत्मबुद्धि रक्खे—पर सम्यक्त्वीके यह अङ्ग भी पूर्णतया पलता है उसकी अनात्मबुद्धि नहीं होती; क्योंकि उसे भेद-विज्ञान प्रकट हो गया है।

उपगूहन पांचमा अंग है। सम्यग्दृष्टि अपने दोषोंको नहीं छिपाता। अमोघवर्ष राजाने लिखा कि भइया प्रछन्न (गुप्त) पाप ही सबसे बड़ा दोष है जिससे वह निरन्तर सशंकित बना रहता है।

एक राजा था। जब वह अशुचि गृह मे जा रहा था तब उसे वहां एक सेव मिला और उठाकर खा लिया अब देखो किसीको भी यह पता नहीं था। जब वह राज-दरबारमें आया तो वहा रंडियोंका नाच-गान शुरू हुआ। एक रंडीने गाया 'कहदैहो ललन की बतियां'। राजा समझ गया और उसने सोचा कि इस रांडने देख लिया। उसने यह सोच कर उसे एक स्वर्ण-मुद्रा प्रदान की कि वह किसीसे यह बात प्रकट न करे। जब उसने दूसरा गाया तब कुछ नहीं दिया। इसी तरह तीसरे गानेमे भी कुछ नहीं दिया। तो रंडी सोचने लगी कि राजा इसी गाने पर मुग्ध हैं। वह बार बार उसीको ही गाने लगी--'कह दैहों ललनकी बतियां'। राजा बड़ा असमजसमें पड़ा और उसने तब दो तीन चीजे दीं— यहां तक कि सारे शरीरके आभूषण उतार कर उसे दे दिए। जब उसने वही गाना गाया तो राजाने सोचा कि इसने सब कुछ तो ले लिया, अब क्या करूं ? वह प्रकट मे बोला 'जा, मैंने सेव खाया है जिससे तुझे कहना है। जाकर कहदे।' तो प्रच्छन्न पाप बड़ा दुखदाई होता है। अरे, जो पाप किए हैं उसे सामने प्रकट कर देवे तो उतना दुख नहीं होता। सम्यग्दृष्टि अपने दोषोंको एक एक करके निकाल फेंकता है। और एक निर्दोष आत्माको ही ध्याता है। स्थितिकरण छठा अंग है। जब कोई अपने ऊपर

विपत्ति आजाय अथवा आधि-व्याधि हो जाय और रत्नत्रयमें अपने परिणाम चलायमान हुए मालूम पड़ें, तब अपन स्वरूपका चिंतवन कर लेवें और पुन. अपनेको उसमें स्थिर करले। व्यवहारमें परको बिगते में सभाले। इस अंगको भी सम्यक्त्वी विस्मरण नहीं करता। वात्सल्य अंग सातवां है। गो और वत्सका वात्सल्य प्रसिद्ध है। ऐसा ही वात्सल्य अपने भाइयोंसे करे। सच्चा वात्सल्य तो अपनी आत्माका ही है। सम्यक्त्वी समस्त प्राणियोंसे मैत्री भाव रखता है। उसके सदा जीव-मात्रके रक्षाके भाव होते हैं। एक जगह लिखा है:—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

'यह वस्तु पराई है अथवा निजकी है ऐसी गणना क्षुद्र चित्तवालोंके होती है। जिनके उदार चरित्र हैं उनके तो पृथ्वी ही कुटुम्ब है।' सम्यग्दृष्टि भगवानकी प्रतिमाके दर्शन करता है पर उसमें भी वह अपने स्वरूपकी ही झलक देखता है जैसा उनका चतुष्टय स्वरूप है वैसा मेरा भी है। ऐसा वह अपनी आत्मासे प्रगाढ वात्सल्य रखता है। और अन्तिम अंग है प्रभावना। सच्ची प्रभावना तो वह अपनी आत्माकी ही करता है पर व्यवहारमें रथ निकालना, उपवास करना आदिकी प्रभावना करता है। हम दूसरोंको जैनी बनानेका उपदेश करते हैं पर स्वयं जैनी बननेकी कोशिश नहीं करते। यह हमारी कितनी भूल है? अरे, पहले

अपनेको जैनी बनाओ। दूसरेकी चिन्ता मत करो। वह तो स्वयं अपने आप हो जायगा। ऐसी प्रभावना करो जिससे दूसरे कहने लगें कि यह सच्चे जैनी हैं। भगवानको ही देखो। उन्होंने पहले अपनेको बनाया' दूसरेको बनानेकी परवाह उन्होंने कभी नहीं कीं यदि तुम जैनी बन जाओगे तो फिर 'यथा पाण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के अनुसार एकका असर दूसरे पर अवश्य पड़ेगा। इसी तरह सब मनुष्य अपनी अपनी चिन्ता करने लगें तो किसी को किसीकी चिन्ता करनेकी जरूरत न रह जाय। यह सिद्धात है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि उक्त अष्टअंगोंका पूर्णतया पालन करता हुआ अपनी आत्माकी निरन्तर विशुद्धि करता रहता है। तो भइया सम्यग्दृष्टि बनो। समताको लानेका प्रयत्न करो। समता और तामस ये दो ही तो शब्द हैं। चाहे समताको अपनालो या चाहे तामसको। समतामे दुख है तो तामसमें दुख है। समता यदि आजायगी तो तुम्हारी आत्मामें भी शाति प्राप्त होगी। सन्देह मत करो।

अब कहते है जो आत्मा और अनात्माके भेदको नहीं जानता वह मिथ्यात्वी है। और वास्तवमें देखो तो यह मिथ्यात्व ही जीव का भयकर शत्रु है। यही चतुर्गतिमे रुलानेका कारण है। दो मनुष्य हैं पहिलेको पूर्वकी ओर जानाहै,, और दूसरेको पश्चिम की ओर। जब वे दोनों एक स्थान पर आए तो पहलेको दिग्भ्रम हो गया और दुसरेको लकवा लग गया पहले वालेको जहां पूर्वकी ओर जाना चाहिए था किन्तु दिग्भ्रम होनेसे वह

पश्चिमकी ओर जाने लगा। वह तो समझता है कि मैं पूर्वकी ओर जा रहा हूँ पर वास्तव मे वह उस दिशासे उतना ही दूर होता जा रहा है। और दूसरे लकवे वालेको हालांकि पश्चिमकी ओर जानेमें उतनी दिक्कत नहीं है; क्योंकि उसे तो दिशाका परिज्ञान है। वह धीरे धीरे अभीष्ट स्थान पर पहुच ही जायगा। परन्तु पहले वालेको तो हो गया है दिग्भ्रम। अतः ज्यों ज्यों वह जाता है त्यों त्यों उसके लिए वह स्थान दूर होता जाता है। उसी तरह यह मोह मिथ्यात्व, मोक्षमार्गसे दूर ला पटकता है। शेष तीन घातिया कर्म तो जीवके उतने घातक नहीं। वे तो इस मोह-के नाश हो जाने से शनै शनैः क्षयको प्राप्त हो जाते हैं। पर बलवान है तो यह मोह मिथ्यात्व, जिसके द्वारा पदार्थोंका स्वरूप विपरीत भासता है। जैसे किसीको कामला रोग हो जाय तो उसे अपने चारों ओर पीला ही पीला दिखता है। शख यद्यपि श्वेत है परन्तु उसे पीला ही दिखलाता है। उसी प्रकार मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व और अनतानुबंधी कषायका उदय होने से पयार्थ दूसरे रूप मे दिखलाई देता है।

एक मनुष्य था। उसे कामला रोग होगया। वह दवा लेने वैद्यके पास गया। वैद्यने उसे मोती भस्म दी और कहा दूधमे घोलकर इसे पीलेना। वह घरपर आया और मा से बोला' मा! एक गिलास दूध दे।' माने सोचा बेटा आज दवाई लाया है। एक स्वच्छ चांदीके गिलासमें दूध भर कर दे दिया। उसने पुड़िया खोलकर उसमे डाल दी। जब वह पीने लगा तो उसे

पीला ही गिलास, पीला ही दूध और पीली ही भस्म दिखलाई दी तुरन्त ही उसने गिलासको जमीन पर पटक दिया और मां से झल्ला कर बोला 'क्या मां घरमे एक भी गिलास चांदीका नहीं है यह दूध भी खराब लाकर रख दिया। वह वैद्य भी महा मूर्ख है जो उसने पीलीही दवाई दी ' ठीक यही हाल मिथ्यादृष्टिका होता है। वह शरीरके मरणमे अपना मरण, शरीरके जन्ममे अपना जन्म और शरीरकी स्थितिमे अपनी स्थिति मान लेता है। कदाचित् गुरुका उपदेश भी मिल जाय तो उसे विपरीत भासता है। इन्द्रियोंके सुखमे ही अपना सच्चा सुख समझता है। पुण्य भी करता है तो आगामी भोगोंकी वाञ्छासे। संसारमे वह पूर्ण आसक्त रहता है और इसीलिए बहिरात्मा कहलाता है ? मुझे यहां एक दृष्टान्त याद आ गया:—

पं० मथुराप्रसादजी थे। उनके साथ दो तीन आदमी और कहीं चले जा रहे थे, तो रास्तेमे एक मुसलमान को कुरान पढ़ते हुए देखा। वहां और भी बहुतसी भीड़ लगी हुई थी। उस कुरानको सुननेके लिए मथुरादासजी वहीं ठहर गए। मुसलमान की बोली तनिक सुन्दर होती है। उनके साथियोंने मथुरादासजी से कहा —'अरे, यहा तो कुरान बच रहा है—चलो पण्डितजी यहां से तुरन्त चलो।' 'पण्डितजीने कहा—जरा ठहरो, थोड़ा बहुत कुरान सुनने दो। साथी बोले—'पण्डितजी ! यहा तो कुरान बच रहा है।' पण्डितजीने कहा —'हा भाइ, मालूम है-बहुत अच्छा कहता है।' साथियोंने पुनः प्रश्न किया—पण्डितजी

आपतो देवशास्त्र गुरूके आराधक हैं, फिर यह कैसी अनुमोदना करते हो।' 'अच्छा बांचता है' पण्डितजीने उत्तर दिया। अच्छा कहता है उन्होंने पूछा—कैसे, वह बोले—' अरे भाई तुम समझते नहीं हो, मिथ्यात्वके उदयमें ऐसाही होता है।

अतः मिथ्यात्वके समान इस जीवका कोई अहितकर नहीं। इसके समान कोई बड़ा पाप नहीं। यही तो कर्मरूपी जलके आनेका सबसे बड़ा छिद्र है जो नावको ससाररूपी नदीमें डुबोता है। इसीके ही प्रसादसे कर्तृत्व-बुद्धि होती है। इसलिए यदि मोक्षकी ओर रुचि है तो इस महान् अनर्थकारी विपरीत बुद्धि को त्यागो। पदार्थोंका यथावत् श्रद्धान करो। देहमें आपा मानना ही देह धारण करनेका बीज है।

अब कहते हैं कि आत्मा स्वरूपसे ि मल एव शुद्ध है। उसमे परकृत कोई रागादिक विकार नहीं। और देखो आचार्योंने चार द्रव्योंको तो शुद्ध-स्वरूप ही बतलाया है केवल जीव और पुद्गल में विभाव परिणति कही है। वैभाविक परिणतिसे दोनोंका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध भी हो रहा है पर यदि द्रव्यदृष्टिसे विचारो तो विदित हो जायगा कि जीवका एक अंश भी पुद्गलमे नहीं गया और पुद्गलका एक अंश भी जीवमे नहीं आया। जैसे एक वस्त्र है वह सूत और रेशमका बना हुआ है बाह्यमें वह अवश्य मिला हुआ एक वस्त्र दीख रहा है पर विचार करो तो उसमें सूत सूत है। इसी तरह रेशम रेशम ही है दोनों भिन्न भिन्न हैं। इसी तरह जीव और पुद्गल दोनों भिन्न द्रव्य हैं। जीवका परिणमन

जीवमे है और पुद्गलका परिणमन पुद्गलमे पुद्गलादि द्रव्य जीवका कुछ विगाड या सुधार नहीं कर सकते। सब द्रव्य देखो स्वतंत्र हैं, केवल अन्धकारमे रज्जुमे सर्पका भान हो रहा है। और रज्जु कभी सर्प होती नहीं, यह भी सिद्धान्त है। वैसे ही हम अनादिसे अनात्माको आत्मा मान बैठे हैं, सो अनात्मा तो आत्मा होता नहीं। यही अनादिसे अज्ञानकी भूल पड़ी है। उस पदार्थको जैसेका तैसा जान ले तब समझो सम्यग्दृष्टि है। और भइया जिसने पदार्थको समझ लिया, उसके राग द्वेष होता नहीं। वह समझता हैकि मैं किससे राग द्वेष करूं। सब पदार्थ अपने अपने स्वभावसे परिणमन कर रहे है। आत्माका स्वभाव आत्मामे है वह दूसरी जगह है कहा? हा, उसमे जा रागद्वेषादि के विकल्प हैं, उन्हे हटाने का प्रयत्न है। जैसे गरम पानी है। उसके शीत गुणकी पर्याय उष्ण रूप है। तब उसे पुनः शीतल करनेके लिए एक बर्तनमे पसार कर पंखे से हवा कर देते है तो ठंडा हो जाता है; क्योंकि शीतलता तो उसका स्वभाव ही है। वैसे ही ज्ञानादि गुणोंमे जो विकारी पर्याये रागद्वेषको हो रही हैं उन्हे हटानेकी आवश्यकता है। हटने पर शुद्ध स्वरूप सहज ही होजायगा।

सचमुचमें सम्यक्त्वी रागद्वेषमय कलंक आत्माको अपने विशुद्ध परिणामोंके जलसे धो डालता है वह अपने समान दूसरों को जानता है। अपने कल्याणका वह इच्छुक है। स्व-पर

उपकारमे तत्पर है—क्या वह दूसरोंका उपकार नहीं चाहेगा ? राग-द्वेषसे बचना ही अपनी आत्माका सच्चा उपकार है। यही सम्यक्त्वीके लक्षण हैं। इसीसे तो सम्यक्त्वीकी पहिचान होती है। रामचन्द्रजी सम्यक्ज्ञानी थे। जब भइया ! रावणके समस्त अस्त्र-शस्त्र विफल हो चुके तब अन्तमें उसने महा शस्त्र चक्रका उपयोग लक्ष्मण पर किया, परन्तु श्री लक्ष्मणके प्रबल पुण्यसे वह चक्र उनके हाथमे आगया। उस समय श्री रामचन्द्र जी महाराजने अति सरल-निष्कपट-मधुर परहित-रत वचनोंके द्वारा रावणको सम्बोधन कर यह कहा, कि हे रावण ! अब भी कुछ नहीं गया, अपना चक्र रत्न वापिस ले लो, आपका राज्य है अतः सब ही वापिस लो। आपके भ्राता कुम्भकर्ण आदि तथा पुत्र मेघनाद जो हमारे यहां बन्दीरूप मे हैं उन्हे वापिस ले जाओ। आपका जो भाई विभीषण हमारे पक्षमें आगया है उसे भी सहर्ष ले जाओ-केवल सीताको दे दो। जो नरसंहारादि तुम्हारे निमित्तसे हुआ है उसकी भी हम अब समालोचना नहीं करना चाहते। हम सीताको लेकर किसी वनमे कुटी बनाकर निवास करेंगे और तुम अपने राजमहलमे मन्दोदरी आदि पट्टरानियों के साथ आनदसे जीवन बिताओ। देखो कैसे सरल भाव है। और बताओ सम्यक्त्वी क्या भाव रखे ? यही नहीं, जब रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा था तब किसीने आकर रामचन्द्रसे कहा—महाराज ! वह तो विद्या सिद्ध कर रहा है। तब सरल परिणामी रामचंद्र कहते है- सिद्ध करने दो, तुम उसकी सिद्धिमे क्यों किसी

प्रकारकी बाधा डालते हो ? और इससे ज्यादा सम्यक्त्वीके क्या भाव होंगे ? बताओ। धन्य है वह वीर आत्मा जिसने अपनी आत्मामे सम्यग्दर्शन पैदाकर अनंत संसारकी संततिको छेद दिया है। वह अवश्यमेव मोक्षका पात्र है। संसारमे भी वही केवल सुखिया है।

कोई कहे कभी यह आत्मा शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ सो ऐसा नहीं है। कार्माण और तैजस शरीरोंका संयोग अनादिसे है, यद्यपि उनमें नए स्कंध मिलते हैं पुराने स्कंध छूटते है। जैसे स्वर्ण पाषाण है। उसमें किट्टिका और कालिमा लगी हुई है और वह इसी तरह खादानमे से निकाला गया। अब वह (स्वर्ण) कबसे अशुद्धावस्था में है—यह कौन कह सकता है ? इसीतरह अनादिसे आत्मा अशुद्धावस्थामें है। यदि वह शुद्ध होता तो फिर संसार कैसा ? सांख्यमतकी तरह आत्माको भी सर्वथा शुद्ध मत मानो। किन्तु आत्मा द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध और पर्यायदृष्टिसे अशुद्ध है इसमें कोई विरोध नहीं। वर्तमान पर्याय उसकी अशुद्ध ही माननी पडेगी। इसलिए उस अशुद्धावस्थाको मेटने का प्रयत्न आवश्यक है। जैसे साटा (गन्ना) है। उसमे मिश्री उतने ही आकारमें विद्यमान है। पहिले उसका रस निकाला जाता है। फिर उसे गाढा कर शक्कर आदि करके मिश्री बनाते हैं। तो यह क्यों ? कितना उपद्रव करना पड़ता है। वैसे ही आत्मा तो शुद्ध है ही, पर वर्तमान पर्याय अशुद्ध होनेके कारण

महाव्रत धरना, तपश्चरण आदि करना पड़ता है। कोई कहे कि आत्मा जब शुद्ध है तो रागादिक क्यों होते हैं? इसका उत्तर यह है कि रागादि होना आत्माका स्वभाव नहीं, विभाव है जो स्वभाव होता है वह कभी मिटता नहीं। पारिणामिकभाव जीवका सदा बना रहता है पर विभाव मिट जाता है। जैसे किसीने मदिरा पान किया तो पागल हो गया और अट सट बकने लगा। अब विचार करो कि क्या पागल होना उसका स्वभाव था? यदि स्वभाव था, तो वह सदा पागल क्यों नहीं बना रहता? और जब नशा उतर जाता है तब ज्योंका त्यों हो जाता है। इससे मालूम हुआ कि पागलपन उसका स्वभाव नहीं था, मदिराके निमित्तसे ही पागलपन हुआ है। वैसे ही जीवके रागादिभाव पुद्गलके निमित्त द्वारा होते हैं लेकिन उसके स्वभाव नहीं हैं। यदि स्वाभाविक होते तो सदा बने रहते। अतः मालूम पड़ता है कि वे औपाधिक हैं, विभाव हैं पराश्रित हैं, किन्तु पारिणामिक भाव सदा शाश्वत हैं इसलिए उपादेय हैं। क्रोधादिक परिणाम सब औदयिक है-कर्मोंके उदयसे होते हैं, अतः हेय हैं।

अध्यवसान भावही बंधका कारण है

अब कहते हैं कि अध्यवसान ही बंधका कारण है। बाहिरी क्रिया कोई बंधका कारण नहीं है पर अन्तरंगमें जो विकारी भाव होते हैं वही बंधके कारण हैं। इसका दृष्टांत ऐसा है जैसे

किसीने किसी को मार डाला, तो मारनेसे बंध नहीं हुआ पर अन्तरंगमें जो उसके मारनेके भाव हुए उनसे बंध हुआ। कोई पूछे कि बाह्य वस्तु जब बंधका कारण नहीं है तो उसका निषेध किस लिए किया जाता है कि बाह्य वस्तुका प्रसंग मत करो, त्याग करो। उसका समाधान यह है कि बंधका कारण निश्चय नयसे अध्यवसान ही है और बाह्य वस्तुए अध्यवसानका आलम्बन हैं उनकी सहायतासे अध्यवसान उत्पन्न होता है इसलिए अध्यवसा: कारण कहा जाता है। बिना बाह्य वस्तुके अवलम्बनके निराश्रय अध्यवसान भाव नहीं उपजता। इसीसे बाह्य वस्तुका त्याग कराया गया है।

हम पदार्थोंका त्याग करना ही सच्चा त्याग समझते लेते हैं। वास्तवमें परपदार्थ हमारा है कहां जिसका हम त्याग करनेके हकदार कहलाते हैं, वह तो जुदा है। अतः पर-पदार्थका त्याग त्याग नहीं। सच्चा त्याग अन्तरंगकी मूर्छा है। हमने उस पदार्थ: अपनी मूर्छा हटाली तो उसका स्वतः त्याग होगया। अतः प्रवृत्तिकी ओर मत जाओ, निवृत्ति पर ध्यान दो। कोई कहता है कि हमने १००)रु० का दान कर दिया। अरे मूरख, १००) रुपये तुम्हारे हैं कहां, जो तुमने दान कर दिए। वे तो जुदे ही थे। अपनी तिजोड़ीसे निकालकर दानशालामें धर दिए। तो रुपयोंका त्याग करना दान देना नहीं हुआ, पर अन्तरंगमें जो तुम्हारी मूर्छा उन रुपयोंके प्रति लगरही थी वह दूर हो गई। अतः मूर्छाक

त्याग करना वास्तविक त्याग कहलाया। कोई कहता है कि हमने इतने परिग्रहका त्याग कर दिया, अमुक परिग्रहका प्रमाण कर लिया तो क्या वह परिग्रहका प्रमाण हो गया? नहीं परिग्रह-प्रमाणव्रत नहीं हुआ। परिग्रहप्रमाणव्रत तब हुआ जब तुम्हारी इच्छा उतनी कम हो गई। तुम्हारा मन जो दौड़ धूप कर रहा था अब उतने मन पर कन्ट्रोल होगया। उस पर विजय पा ली अतः इच्छा जितनी कम हुई उतना प्रमाण हुआ इसलिये त्याग कहलाया।

अब यह कहना कि 'मैं इसको जिलाता हूँ और इसको मारता हूँ', तो आचार्य कहते हैं कि यह मिथ्या अभिप्राय है। कोई किसीको मारता और जिलाता नहीं हैं। सब अपनी अपनी आयुसे जीवित रहते हैं और आयुके निषेक पूरे होनेसे मरणको प्राप्त होते हैं। आचार्य कहते हैं 'अरे क्या, तेरे हाथमें आयु है जो तू दूसरे को जिलाता तथा मारता है? निश्चय नय कर जीवके मरण है वह अपने आयु कर्मके क्षयसे होता है। और अपना आयु कर्म अन्य कर हरा नहीं जा सकता। इसलिए अन्य अन्यका मरण कैसे कर सकता है? इसी तरह जीवोंका जीवन भी अपने आयु कर्मके उदयसे ही है।

अब जिसका ऐसा मानना है कि मैं पर जीवको सुखी दुखी करता हूँ, और मुझे परजीव सुखी दुखी करते हैं, यह भी मानना अज्ञान है क्योंकि सुख दुख सब जीवोंका अपने कर्मके उदयसे

होता है, और वह कर्म अपने अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता है। इस कारण एक दूसरेको सुख दुख कैसे दे सकता है? मैना सुन्दरी को ही देखो अपने पितासे स्पष्ट कह दिया कि मैं अपने भाग्यसे खाती हूँ। उसके पिताने श्रीपाल कुष्टीसे उसका विवाह कर दिया। पर मैनाने सिद्धचक्रका विधान रचकर उसका भी कोढ़ दूर कर दिया। पर विचार करो 'क्या उसने पतिका कोढ़ दूर किया? अरे, उसके पुण्यका उदय था कोढ़ दूर होगया। उसका निमित्त मिलना था सो मिल गया। पर क्या वह ऐसा नहीं जानती थी? अत: सब अपने भाग्यसे सुखी और दुखी हैं। समयसारमे लिखा है.—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदु:ख-सौख्यम्॥
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य।
कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदु:ख-सौख्यम्॥

इस लोकमे जीवोंके जो मरण, जीवन दु:ख सुख होते हैं वे सब स्वकीय कर्मोंके उदयसे होते हैं, ऐसा होने पर भी जो ऐसा मानते है कि परके द्वारा परके जीवन मरण दु:ख और सुख होते हैं— यह अज्ञान है।

कोई कहे कि 'मैं इसको मोचन करता हूँ और इसको बांधता हूँ' तो यह भी मिथ्या है। तुमने अपना अभिप्राय तो ऐसा कर

लिया कि 'एनं मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूँ, और 'एनं बन्धयामि' मैं इसको बाधता हूँ।' पर जिससे ऐसा कहा कि 'एनं मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूँ और उसने सरागपरिणाम करलिया तो कहा वह मुक्त हुआ ? और जिसने ऐसा कहा कि 'एनं बन्धयामि' मैं इसको बाधता हूँ उसने वीतराग परिणाम करलिए तो वह मुक्त होगया। और तुमने कुछ भी अभिप्राय नहीं किया। एकने सरागपरिणाम कर लिए और दूसरेने वीतराग भाव कर लिए; तो पहिला बन्ध गया और दूसरा मुक्त होगया। इसलिए यह बधन क्रिया और मोचन क्रिया तुम्हारे हाथकी बात नहीं है। तुम अपने पदार्थके स्वामी हो और पर-पदार्थ अपनेका है। तुम दूसरे पदार्थको अपनी इच्छानुकूल परिणमाना चाहो तो वह त्रिकालमें नहीं हो सकता। अत' 'एनं मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हू और 'एनं बन्धयामि' मैं इसको बाधता हूँ ऐसा अभिमान करना व्यर्थ है और उससे उल्टा कर्मका बन्धन होता है। हाँ, तुम अपना अभिप्राय निर्मल रक्खो। दूसरा चाहे कुछभी अभिप्राय रक्खे। और देखो सब अभिप्राय की ही बात है। निर्मल अभिप्राय ही मोक्षमार्ग है। तुम पाठ पूजन खूब करो, पर अभिप्राय निर्मल नहीं तो कुछ नहीं। अब देखो तुम कहते हो न 'प्रभु पतित पावन।' अरे प्रभु थोडे ही पावन हैं। तुमने उतने अशमें अपने अभिप्राय निर्मल कर लिए, तुमही पतितसे पावन होगए। प्रभु क्या पावन होंगे ' तुमने प्रभुको

कारण बना लिया, पर कार्य हुआ तुममें। इसीलिए कविवर पं० दौलतरामजी अपनी स्तुतिमें लिखते हैं कि:—

मुझ कारजके कारण सु आप।
सो करो हरो मम मोह ताप॥

और भइया! भगवान्‌की महिमाको कौन जान सकता है। भगवान्‌की महिमा भगवान् ही जाने। हम मोही जीव उनकी महिमाको क्या जान सकते हैं; तो प्रयोजनीय बात इतनी ही है कि परपदार्थ हमारी श्रद्धामें आ जाय कि ये हमारी चीज नहीं है तो फिर संसार बंधनसे छूटनेमे कोई बड़ी बात नहीं है। समझले रागद्वेषादिक परकृत विकार है, मेरे शुद्ध स्वभावको घातनेवाले हैं इसलिए छोड़नेका प्रयत्न करे। सम्यक्त्वीके यही श्रद्धान तो दृढ़ हो जाता है। वह जानता है कि मेरी आत्मा तो स्वच्छ स्फटिक समान है। ये जितनेभी औपाधिक भाव होते हैं, वे मोहके निमित्तसे होते है। अतः उन्हें छोड़नेका पूर्ण प्रयत्न करता है। हम लोग चारित्रके पालनसे आतुर हो जाते हैं। अरे, चारित्रमे क्या है, सबसे बड़ी श्रद्धा है। भगवान् आदिनाथने ८३ लाख पूर्व गृहस्थीमे व्यतीत कर दिए। एक पुत्रको इस बगलमें बिठलाते रहे है दूसरेको दूसरी बगलमें। नाना प्रकारकी ज्योतिष और गणितविद्या भी बतलाते रहे है। यह सब क्या, परन्तु बन्धुओं! चरित्रमोहकी मदता हुई तो घर छोड़नेमें देर न लगी! तो हमे चारित्रमे इतना यत्न न करना चाहिए। चारित्र तो

कालान्तर पाकर हो ही जायगा। चारित्र पालमेंने उतनी बड़ाई नहीं है जितनी श्रद्धा लानेमे। श्रद्धामे अमोघ शक्ति है। यथार्थ श्रद्धा ही मोक्षमार्ग है। सम्यक्त्वीके श्रद्धाकी ही तो महिमा होती है वह परपदार्थोंका भोग नहीं करता सो बात नहीं है। पर श्रद्धासे जान जाता है कि 'अरे' यह तो पराई है।' अब देखिए लड़की जब पैदा होती है तब मां अन्तरंगमें जान ही तो जाती है कि यह पराई है। वह उसका पालन पोषण नहीं करती सो बात नहीं है वह पालती है, उसे बड़ा करती है, उसका विवाह भी रचाती है और जब पर-घर जानेको होती है तब रोती भी है चिल्लाती है और थोड़ी दूर तक साथ भी जाती है, पर कब तक? यही हाल उसका होता है। वह भोग भोगता है, युद्ध करता है, अदालतमें मुकद्दमा भी लड़ता है पर कब तक? और हम आपसे पूछते हैं, उसके काहेके भोग है? बिल्ली चूहेको पकड़ लेती है और लाठी मारने पर भी नहीं छोड़ती, भोग तो वह कहलाते हैं। और हरिण मुखमें तृण लिए हुए है पर यों ताली फटकारी चौकड़ी भर कर भाग खड़ा हुआ तो वह काहे का भोग? भोग तो वही है जिसमे आसक्ति हो, उसमे उपादेय बुद्धि हो। अब मुनिको ही देखो। क्या उनके स्त्री परीषह नहीं होती? होती हैं, पर जैसी हमको होती है वैसी उनको नहीं है। क्या उनको क्षुधाका वेदन नहीं होता? यदि वेदन नहीं होता तो आहार लेनेके वास्ते जाते ही क्यों हैं? क्षुधाका वेदन होता है पर वह उस चालका नहीं

है। निरन्तराय भोजन मिला तो कर लिया नहीं तो वापिस लौट आते हैं। किसी कविने कहा है :—

अपराधिनि चेत्क्रोधः क्रोधे क्रोधः कथं न हि।
धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां परिपन्थिनि॥

यदि अपराधी व्यक्ति पर क्रोध करते हो तो सबसे बड़ा अपराधी क्रोध है, उसी पर क्रोध करना चाहिए, क्योंकि वह धर्म, अर्थ काम और मोक्षका शत्रु है। अच्छा बतलाओ किसपर तोष-रोष करे। हम जितनेभी पदार्थ संसार मे देखते है, सब अचेतन ही तो हैं और चेतन है सो दिखता नहीं है। जैसे हमने तुम पर क्रोध किया, तो क्रोध जिस पर किया वह तो अचेतन है और जिसपर करना चाहते हो वह दिखता नहीं, अमूर्तिक है। अतः हमारी समझमे तो रागद्वेषादिक करना सब व्यर्थ है। अपना कल्याण करे, दुनियां को न देखे। जो दुनिया को तो शिक्षा करे और अपनी ओर न देखे तो उससे क्या लाभ? अरे, अनादि-काल से हमने परको बनानेकी कोशिश की है और फिरभी परको बनाने मे अपने को चतुर समझते हैं तो, उस चतुराई को धिक्कार है जो दूसरोंको उपदेश करें, व अपने आत्माके हितका नाश करे। उस आंख से क्या लाभ, जिसके होतेहुएभी गढ़े मे गिर पड़े उस ज्ञानसे भी क्या जो ज्ञानी होकर विषयोंके भीतर पड़ जावे। इसलिए केवल अपने को बनाए। जिसने अपनेको नहीं बनाया वह दूसरोंको भी क्या बना सकता है अपने को बनाना ही संसार बंधन से छूटने का प्रयास है। यही मोक्षकी कुंजी है।

एक धुनियां था। वह कहीं कामसे चला जा रहा था। मार्गमे उसने रूईसे भरे जहाजोंको आते हुए देख लिया। उसने सोचा 'हाय! यह तो मुझे ही धुननी पडेगी।' ऐसा सोचते घरमें आकर वह बीमार पड़ गया। उसके लड़केने पूछा—पिता जी! क्या बात हो गई?' वह बोला—'कुछ नहीं! वैसे ही तबियत खराब हो गई है।' लड़केने बहुत डाक्टरों और वैद्योंका इलाज करवाया पर वह अच्छा न हुआ। अन्तमे एक आदमीको मालूम पड़ा और उसने लड़केसे पूछा—'तेरे पिताजीकी कैसी तबियत है?' वह बोला—कुछ नहीं, उन्हो ने कहीं रूईसे भरे हुए जहाजोंको देख लिया है, इस कारण बीमार पड़ गए हैं। उस आदमी ने सोचा कि अरे वह धुनिया तो है ही, शायद उसने समझा होगा कि यह रूई कहीं मुझे न धुननी पड़े। वह (प्रकट मे) बोला—देखो, हम तुम्हारे पिताजीको अच्छा कर देंगे लेकिन १००) रूपये लेंगे। लड़केने मंजूर कर लिया।

उस आदमीने उसी समय उसके घर जाकर एक गिलास पानी लिया और कुछ मंत्र पढ़कर कुछ राख डालकर धुनियां से बोला इस गिलास का पानी पी जाओ। उस धुनिए ने वैसा ही किया और वह पानी पी लिया। तब वह आदमी बोला—'देखो' उन रूईसे भरे हुए जहाजोंमे आग लग गई।' इतना कहना था कि वह (धुनिया) झट बोल उठा—'क्या सचमुच उन जहाजोंमे आग लग गई।' उसने कहा—'हां'। तुरन्त ही वह भला-चगा हो गया इसी प्रकार हम भी परपदार्थोंको लक्ष्य कर यह सोच रहे

है कि हमें यह करना है और वह करना है—इस कारण रोगी बने हुये हैं। और जब अपने स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं तो हमे कुछ नहीं करना है। केवल अपने पदको पहचानना है।

आत्माका ज्ञान स्वभाव

अब बतलाते है कि आत्माका ज्ञानस्वभाव लक्षण है। लक्षण वही जो लक्ष्यमे पाया जावे। तो आत्माका लक्षण ज्ञान ही है जिससे लक्ष्य आत्माकी सिद्धि होती है। वैसे तो आत्मामे अनंत-गुण हैं जैसे दर्शन, चरित्र, वीर्य, सुख इत्यादि पर इन सब गुणोंको बतलाने वाला कौन है? एक ज्ञान ही है। मैं धनी, निर्धन, रंक, राव, मनुष्य, स्त्री इनको कौन जानता है? केवल एक ज्ञान। ज्ञान ही आत्माका असाधारण लक्षण है। दोनों (आत्मा और ज्ञान) के प्रदेशोंमें अभेदपना है। ज्ञानीजन ज्ञानमें ही लीन रहते और परमानन्दका अनुभव करते है। वह अन्यत्र नहीं भटकते। और परमार्थसे विचारो तो केवल ज्ञानके सिवाय अपना है क्या? हम पदार्थोंका भोग करते हैं, व्यज-नादिके स्वाद लेते हैं उसमे ज्ञानका ही तो परिणमन होता है। यदि ज्ञानोपयोग हमारा दूसरी ओर होयतो सुन्दरसे सुन्दर विषय सामग्री भी हमको नहीं सुहावे। तो उस ज्ञानकी अद्भुत महिमा है। वह कैसा है? दर्पणवत्‌ निर्मल है। जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं? वैसे ही ज्ञानमें ज्ञेय स्वयमेव झलकते है

तो भी ज्ञानमे उन ज्ञेयोंका प्रवेश नहीं होता। अब देखो, दर्पण के सामने शेर गुंजार करता है तो क्या शेर दर्पण में चला जाता है ? नहीं, केवल दर्पणका परिणमन शेर के आकार अवश्य हो जाता है। दर्पण अपनी जगह पर है,शेर अपने स्थान पर है। उसी तरह ज्ञान मे ज्ञेय झलकते हैं तो झलको उसका स्वभाव ही देखना और जानना है इस का कोई क्या करे ? हा रागादिक करना यही वधका जनक है। हम इन को देखते हैं उन को देखते है और सवको देखते हैं तो देखो पर अमुक रुचि गया उससे राग और अमुकसे अरुचि हुई उससे द्वेष कर लिया यह कहा का न्याय है ? बताओ। अरे उस ज्ञान का काम केवल देखना और जानना मात्र था, सो देख लिया और जान लिया। चलो छुट्टी पाई। ज्ञानको ज्ञान रहने देनेका उपदेश है। उस मे कोई प्रकार की इष्टानिष्ट कल्पना करने को नहीं कहा। पर हम लोग ज्ञान को ज्ञान कहां रहने देते है, मुश्किल तो यह पड़ी है।

भगवान् को देखो और जाओ। यदि उनसे राग कर लिया तो जाओ स्वर्गमे और द्वेषकर लिया तो पड़ो नरकमे। इससे मध्यस्थ रहो। उन्हे देखो और जानो। जैसे प्रदर्शनीमे वस्तुएं केवल देखने और जानने के लिए होती हैं वैसे ही ससारके पदार्थ भी केवल देखने और जानने के लिए है। प्रदर्शनीमें यदि एक भी वस्तुकी चोरी करो तो बंधना पड़ता है उसी प्रकार ससारके

पदार्थोंका ग्रहण करनेकी अभिलाषा करो तो बंधन है; अन्यथा देखो और जानो। अभी स्त्री बीमार पड़ी है तो उसके मोहमें व्याकुल होगए। दवाई लानेकी चिन्ता होगई, क्योंकि उसे अपनी मानलिया, नहीं तो देखो और जानो। निजत्वकी कल्पना करना ही दुःखका कारण है।

'समयसार' मे एक शिष्यने आचार्यसे प्रश्न किया–महाराज! यदि आत्मा ज्ञानी है तो उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं और अज्ञानी है तो उसे उपदेशकी आवश्यकता नहीं। आचार्यने कहा कि जब तक कर्म और नोकर्मको अपनाते रहोगे अर्थात् पराश्रित बुद्धि रहेगी तब तक तुम अज्ञानी हो और जब स्वाश्रित बुद्धि हो जायगी तभी तुम ज्ञानी हो।

एक मनुष्यके यहाँ दामाद और उसका लड़का आता है। लड़का तो स्वेच्छासे इधर उधर पर्यटन करता है। परन्तु, दामादका यद्यपि अत्यधिक आदर होता है तब भी वह सिकुड़ा सिकुड़ा सा घूमता है। अतएव स्वाश्रित बुद्धि ही कल्याणप्रद है। आचार्यने वही एक शुद्धज्ञान–स्वरूपमे लीन रहनेका उपदेश दिया है। जैसा कि नाटक समयसारमे लिखा है:—

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं,
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो,
रागद्वेषमया भवंति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥२४॥

यह ज्ञानी पूर्ण एक अच्युत शुद्ध (विकारसे रहित) ऐसे ज्ञानस्वरूप जिसकी महिमा है ऐसा है। ऐसा ज्ञानी ज्ञेय पदार्थोंसे कुछभी विकारको नहीं प्राप्त होता। जैसे दीपक प्रकाशने योग्य घटपटादि पदार्थोंसे विकारको नहीं प्राप्त होता उसी तरह। ऐसी वस्तुकी मर्यादाके ज्ञानकर रहित जिनकी बुद्धि है ऐसे अज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक उदासीनता को क्यों छोड़ते है और रागद्वेषमय क्यों होते हैं ? ऐसा आचार्यने सोच किया है।

कुछ लोग ज्ञानावरणी कर्मके उदयको अपना घातक मान दुखी होते हैं। तो कहते हैं कि कर्मके उदयमें दुखी होनेकी आवश्यकता नहीं है। अरे जितना क्षयोपशम है उसीमे आनद मानो। पर हम मानते कहा है ? सर्वज्ञता लानेका प्रयास जो करते हैं। अब हम आपसे पूछते हैं, सर्वज्ञता मे क्या है ? हमने इतना देख लिया और जानलिया तो हमें कौनसा सुख हो गया ? तो देखने और जाननेमें सुख नहीं है। सुखका कारण उनमें रागादिक न होने देना है। सर्वज्ञ भी देखो अनन्त पदार्थोंको देखते और जानते हैं पर रागादिक नहीं करते, इसलिये पूर्ण सुखी हैं। अतः देखने और जाननेकी महिमा नहीं है। महिमा तो रागादिकके अभावमे ही है।

लेकिन हम चाहते है कि रागादिक छोड़ना न पड़े और उस सुखका अनुभव भी हो जावे तो यह कैसे बने ? मूली खाओ और केशरका स्वाद भी आजाय, यह कैसे हो सकता है ? रागादिक तो दुखके ही कारण हैं, उनमे यदि सुख चाहो तो कैसे

मिल सकता है ? राग तो सर्वथा हेय ही है। अनादिकालसे हमने आत्माके उस स्वाभाविक सुखका स्वाद नहीं जाना, इसलिए रागके द्वारा उत्पन्न किंचित् सुखको ही वास्तविक सुख समझ लिया। आचार्य कहते है कि अरे उस सुखका कुछ तो अनुभव करो। अब देखो, कडुवी दवाको मां कहती है न 'बेटा इसे आंख मींच कर पी जाओ।' अरे, आख मींचनेसे कहीं कडुवापन तो नहीं मिट जायगा ? पर कहती है कि बेटा पी जाओ। वैसे ही उस सुखका किञ्चित् भी तो अनुभव करो। पर हम चाहते हैं कि बच्चोंसे मोह छोड़ना न पड़े और उस सुखका अनुभव भी हो जाय। 'हल्दी लगे न फिटकरी रंग चोखा आ जाय।' अच्छा, बच्चोसे मोह मत छोड़ो तो उस स्वात्मीक सुखका तो घात मत करो। पर क्या है उधर दृष्टि नहीं देते इसीलिए दुःखके पात्र है।

और भइया ! ऐसी बात नहीं है कि किसीके रागादिक घटते न होंय। अभी संसारमें ऐसे प्राणी है जो रागादिक छोड़नेका शक्ति भर प्रयास करते हैं। पर सिद्धान्त यही कहता है कि रागादिक छोड़ना ही सर्वस्व है। जिसने इन्हें दुःखदाई समझकर त्याग दिया, वही हमतो कहते है 'धन्य है'। कहने सुननेसे क्या होता है ? इतने जनोंने शास्त्र श्रवण किया तो क्या सबके रागादिकोंकी निवृत्ति होगई ? अब देखो आल्हा ऊदलको कथा बांचते हैं तो वहां कहते हैं यों मारा, यों काटा पर यहा किसीके एक

समाचा तक नहीं लगा। तो केवल कहनेसे कुछ नहीं होता। जिसने रागादिक त्याग दिए बस उसीको मजा है। जैसे कंदोई (हलवाई) मिठाई तो बनाता है पर उनके स्वादको नहीं जानता। वैसेही शास्त्र बाचना तो मिठाई बनाना है पर जिसने चख लिया बस उसी को मज़ा है।

आत्माका आवृत स्वरूप

अब कहते है कि आत्मामे अनन्तशक्ति तिरोभूत है। जैसे सूर्यका प्रकाश मेघपटलोंसे आच्छादित होने पर अप्रकट रहता है वैसे ही कर्मोंके आवरणसे आत्माकी अनंत शक्तिया प्रकट नहीं होतीं। जिस समय आवरण हट जाते हैं उसी समय वे शक्तियाँ पूर्णरूपेण विकसित होजाती हैं। देखो, निगोदसे आकर मनुष्य पर्याय धारण कर मुक्तिके पात्र बने, इससे आत्माकी अचिन्त्य शक्ति ही तो विदित होती है अतः हमें उस [आत्मा] को जाननेका अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिये। जैसे बालक मिट्टीके खिलोने बनाते और फिर बिगाड़ देते हैं वैसे ही हम ही ने संसार बनाया और हम ही यदि चाहे तो संसारसे मुक्त हो सकते हैं। एक स्थान पर लिखा है:—

संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीयं,
चेतो निमज्जति मनोरथसागरेस्मिन्।
तत्रार्थस्तव चकास्ति न किञ्चनापि।
पक्षे परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य॥

हम नाना प्रकारके मनोरथ करते हैं। अरे, उनमेंसे एक मनोरथ मुक्तिका भी सही। वास्तवमे हमारे सब मनोरथ बालूकी भीतिके भाति ढह जाते हैं, यह सब मोहोदयकी विचित्रता है। जहा मोह गला वहां कोई मनोरथ नहीं रह जाता। हम रात्रि दिन पापाचार करते है और भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि भगवान् हमारे पाप क्षमा करना। अरे, भगवान तुम्हारे पाप क्षमा करे। पाप करो तुम, क्षमा करे भगवान-यह भी कहीं का न्याय है? कोई पाप करे और कोई क्षमा करे। उसका फल भइया उसहीको भुगतना पड़ेगा। भगवान तुम्हे कोई मुक्ति नहीं पहुंचा देगे। मुक्ति जाओगे तुम अपने पुरुषार्थ द्वारा। यदि विचार किया जाय तो मनुष्य स्वयं ही कल्याण कर सकता है।

एक पुरुष था उसकी स्त्रीका अकस्मात् देहान्त हो गया। वह बड़ा दु:खी हुआ। एक आदमीने उससे कहा अरे, 'बहुतोंकी स्त्रियां मरती हैं, तू इतना बेचैन क्यों होता है? वह बोला तुम समझते नहीं हो। उसमे मेरी मम बुद्धि लगी है इसलिए मैं दु:खी हू दुनियाकी स्त्रिया मरती है तो उनसे मेरा ममत्व नहीं,- इसहीमे मेरा ममत्व था। उसी समय दूसरा बोला 'अरे, तुझमे जब अहबुद्धि है तभी तो मम बुद्धि करता है। यदि तेरेमें अहं बुद्धि न हो तो ममबुद्धि किससे करे? अहंबुद्धि और ममबुद्धि को मिटाओ, पर अहबुद्धि और ममबुद्धि जिसमे होती है, उसे तो जानो। देखो लोकमे वह मनुष्य मूर्ख माना जाता है जो

अपना नाम, अपने गावका नाम, अपने व्यवसायका नाम न जानता हो उसी तरह परमार्थसे वह मनुष्य मूर्ख है जो अपने आपको न जानता हो। इसलिए अपनेको जानो। तुम हो जभी तो सारा ससार है। आख मींचलो तो कुछ नहीं। एक आदमी मर जाता है तो केवल शरीर ही तो पड़ा रह जाता है और फिर पञ्चेन्द्रिया अपने अपने विषयोमें क्यों नहीं प्रवर्तती ? इससे मालूम पड़ता है कि उस आत्मामें एक चेतनाका ही चमत्कार है। उस चेतनाको जाने विना तुम्हारे सारे कार्य व्यर्थ हैं।

मोहमें ही इन सबको हम अपना मानते हैं। एक मनुष्यने अपनी स्त्रीसे कहा कि अच्छा बढ़िया भोजन बनाओ हम अभी खानेको आते हैं। ज़रा बाज़ार हो आए। अब मार्गमें चले तो वहा मुनिराजका समागम होगया। उपदेश पाते ही वह भी मुनि हो गया। और वही मुनि बनकर आहारके वास्ते वहाँ आगया। तो देखो उस समय कैसा अभिप्राय था अब कैसे भाव हो गए चक्रवर्तीको ही देखो। वह छः खडको मोहमे ही तो पकडे हैं। जब वैराग्य उदय होता है तो सारी विभूतिको छोड बनवासी बन जाता है। तो देखो उस इच्छाको ही तो वह मिटा देता है कि 'इदम् मम' यह मेरी है। वह इच्छा मिट गई अब छ. खडको बताओ कौन सभाले ? जब ममत्व ही न रहा तब उसका क्या करे ? इच्छाको घटाना ही सर्वस्व है। दान भी यदि इच्छा करके दिया तो बेवकूफी है। समझो यह हमारी चीज़ ही नहीं है। तुम कदाचित यह जानते हो कि यदि हम दान न देवें तो उसे कौन

दे ? अरे उसके पुण्यका उदय होयगा तो दूसरा दान दे देगा फिर ममत्व बुद्धि रखके क्यों दान देता है ? वास्तवमें तो कोई किसी की चीज नहीं है। व्यर्थ ही अभिमान करता है। अभिमानको मिटा करके अपनी चीज मानना महाबुद्धिमत्ता है। कौन बुद्धिमान दूसरेकी चीज़को अपनी मानकर कब तक सुखी रह सकता है ? जो चीज तुम्हारी है उसीमे सुख मानो।

महादेवजीके कार्तिकेय और गणेश नामक दो पुत्र थे। एक दिन महादेवजीने उनसे कहा, 'जाओ, वसुन्धराकी परिक्रमा कर आओ'। तब कार्तिकेय और गणेश, दोनों हाथ पकड़ कर दौड़े। गणेशजी तो पीछे रह गए और कार्तिकेय बहुत आगे चले गए। गणेशजीने यहीं पर महादेवजीकी ही परिक्रमा कर ली। जब कार्तिकेय लौटे और महादेवजी ने गणेशजीकी ओर संकेत कर कहा यह 'पहिले आए' तो कार्तिकेयने पूछा 'यह पहिले कैसे आए ? बताइए।' उसी समय उन्होंने अपना मुंह फाड़ दिया जिसमें तीनों लोक दिखने लगे। महादेवजी बोले 'देखो इन्होंने तीनों लोकोंकी परिक्रमा करली।' तो भइया उस केवलज्ञानकी इतनी बड़ी महिमा है कि जिसमें तीनों लोकोंकी चराचर वस्तुएं भासमान होने लगती है। हाथीके पैरमे बताओ किसका पैर नहीं समाता —ऊंटका घोडेका सबोंका पैर समा जाता है। अतः उस ज्ञानकी बडी शक्ति है। और वह ज्ञान तभी पैदा होता है जब हम अपनको जाने। पर पदार्थोंसे अपनी चित्तवृत्तिको

हटाकर अपनेमें सयोजित करें। देखो समुद्रसे मानसून उठते हैं और बादल बनकर पानीके रूपमे बरस पड़ते हैं। तो पानीका यह स्वभाव होता है कि वह नीचेकी ओर ढलता है। पानी जब बरसा तो देखो रावी चिनाब झेलम सतलुज होता हुआ फिरउसी समुद्रमे जा गिरता है। उसी प्रकार आत्मा मोहमे जो यत्र तत्र चतुर्दिक भ्रमण कर रही थी ज्योंही वह मोह मिटा तो वही आत्मा अपनेमें सिकुड़कर अपनेमें ही समा जाती हैं। यों ही केवल ज्ञान होता है। ज्ञानको सब परपदार्थोंसे हटाकर अपनेमे ही संयोजित कर दिया—बस केवल ज्ञान हो गया। और क्या है?

हम पर-पदार्थोंमें सुख मानते हैं। पर उसमें सच्चा सुख नहीं हैं। मड़ावराकी बात है। वहासे ललितपुर ३६ कोसकी दूरी पर पड़ता है। वहा सर्दी बहुत पड़ती है। एक समय कुछ यात्री जा रहे थे। जब बीचमे उन्हे अधिक सर्दी मालूम हुई तो उन लोगोने जगलसे घास फूस इकट्ठा किया और उसमे दिया-सलाई लगा आचसे तापने लगे। ऊपर वृक्षों पर बन्दर बैठे हुए यह कौतुक देखरहे थे। जब वे यात्री लोग चले गए तो बन्दर ऊपरसे उतरे और उन्होंने वैसा ही घास फूस इकठा कर लिया। अब कुछ घिसनेको चाहिए तो दियासलाई की जगह वे जुगनको पकड़ लाए और घिसकर डाल दे पर आंच नहीं सुलगे। बार बार वे उन्हे पकड़कर लाए और फिर घिसकर डाल दें पर आच सुलगे तो कैसे सुलगे। इसी तरह पर- पदार्थोंमे सुख मिले तो कैसे मिले? वहा तो आकुलता ही मिलेगी और आकुलतामें सुख

कहां ? तुम्हें आकुलता हुई कि चलो मन्दिरमें पूजा करें और फिर शास्त्र श्रवण करें। तो जब तक तुम पूजा करके शास्त्र नहीं सुन लोगे तब तक तुम्हे सुख नहीं है; क्योंकि आकुलता लगी है। उसी आकुलताको मिटानेके लिए तुम्हारा सारा परिश्रम है। तुम्हे दुकान खोलनेकी आकुलता हुई। दुकान खोल ली चलो आकुलता मिट गई। तुम्हारे जितने भी कार्य हैं सब आकुलताको मेटनेके जाने हैं। तो आकुलतामें सुख नहीं। आत्माका सुख निराकुल है वह कहीं नहीं है, अपनी आत्मामे ही विद्यमान है। एक क्षण परपदार्थोंसे रागद्वेष हटाकर देखो तो तुम्हे आत्मामे निराकुल सुख प्रकट होगा। यह नहीं, अब कार्य करे और फल बादको मिले। जिस क्षण तुम्हारे वीतराग भाव होंगे तत्क्षण तुम्हे सुखकी प्राप्ति होगी। आत्माकी विलक्षण महिमा है। कहना तो सरल है पर जिसने प्राप्त कर लिया वही धन्य है। और जितना पढ़ना लिखना है उसी आत्माको पहिचाननेके अर्थ है। कहीं किताबोंसे भी ज्ञान प्राप्त होता है ? ज्ञान तुम्हारी आत्मामें है। पुस्तकोंका निमित्त पाकर वह विकसित हो जाता है। वैराग्य कहीं नहीं धरा ? तुम्हारी आत्मामे ही विद्यमान है। अतः जैसे बने वैसे उस आत्माको पहिचानो।

एक कोली था। उसे कहींसे एक पाजामा मिल गया। उसने पाजामा कभी पहिना तो था नहीं। वह कभी सिरसे उसे पहिनता तो ठीक नहीं बैठता। कभी कमरसे लपेट लेता तो भी ठीक नहीं

बैठता। एक दिन उसने ज्योंही एक पैर एक पाजामेमें और दूसरा पैर दूसरेमें डाला तो ठीक बैठ गया। बड़ा खुश हुआ। इसी तरह हम भी इतस्तत भ्रमण कर दुखी हो रहे हैं। पर जिस काल हमें अपने स्वरूपका ज्ञान होता है तभी हमे सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है। इसलिए उसकी प्राप्तिका निरन्तर प्रयास करना चाहिए।

रागादिक ही दुःखके कारण हैं

अब कहते हैं कि आत्माको रागादिक परिणाम ही दु खदायी हैं। रागका किंचित सद्भाव भी मनुष्यके लिए अहितकर है। जैसा कि लिखा है:—

"परमाणु मित्तयं पिहु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पा-णयं तु सव्वागमधरो वि ॥२०१॥

यस्य रागाद्यज्ञानभावानां लेशतोऽपि विद्यते सद्भाव सश्रुत-केवलिसदृशोऽपि तथापि ज्ञानमयभावानामभावेन न जानात्या-त्मानं यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति स्वरूप-पररूपसत्तासत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात्।"

जिस जीवके रागआदि ज्ञानभावका लेशमात्र भी सद्भाव है वह श्रुतकेवलीके सदृश भी ज्ञानी है तो भी ज्ञानमय भावके अभावसे आत्माको नहीं जानता है। और जो आत्माको नहीं जानता वह अनात्मा (पर) को नहीं जानता है, क्योंकि अपने और परके स्वरूपका सत्व असत्व दोनों एक ही वस्तुके निश्चय में आ जाते हैं।

लोग कहते हैं कि नरकोंमे इतने बड़े दुःख हैं, वहांके समान दुःख और कहीं नहीं पर यह तो परोक्षकी बात हुई। हम तो कहते है कि प्रत्यक्ष ही राग दुःखका कारण है। हम सब दुखी हो रहे हैं केवल एक रागसे ही। अभी सब पदार्थोंसे राग हटालो तो उसी क्षण हमें सुखका अनुभव हो जायगा। स्वर्गोंमे हम सुखकी कल्पना करते हैं पर वर्तमानमें ही यदि रागकी मंदता हो तो सुख का अनुभव होजाय। तो भइया! अपनी ओर दृष्टिपात करो और विचार करो कि हममें कितना राग कम हुआ। दुनियां की ओर मत देखो। अपनेको आकुलता होती है तो दुनियाको आकुलित देखते है। भगवानके कोई प्रकारकी आकुलता नहीं उन्होंने अपनेको बनाया इसलिए दुनियांसे उन्हें कोई सरोकार नहीं। अपना स्वभाव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमय है। मोक्षार्थीको केवल उन्हींका सेवन करना चाहिए। तदुक्तं—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥

मोहमें मनुष्य पागल हो जाता है। इसके नशेमें यह जीव क्या क्या उपहासास्पद कार्य नहीं करता? देखिए, जब आदि-नाथ भगवान् ने ८३ लाख पूर्व गृहस्थी में रहकर बिता दिए तब इन्द्रने विचार किया कि किसी प्रकार प्रभुको भोगोंसे विरक्त करना चाहिए जिससे अनेक भव्य प्राणियोंका कल्याण होय। इस कारण उसने एक नीलाञ्जना अप्सरा—जिसकी आयु बहुत ही अल्प

थी—सभामें नृत्य करनेके वास्ते खड़ी करदी। ज्योंही वह अप्सरा नृत्य करते करते विलय गई त्योंही इन्द्रने तुरन्त उसी वेश-भूषा की दूसरी अप्सरा खडी करदी ताकि प्रभुके भोगोंमें किसी प्रकार की वाधा न पहुँचे। परन्तु भगवान तीन ज्ञान सयुक्त तुरन्त उसी दृश्यको ताड़ गए और मनमें उसी अवसरपर वैराग्यका चिन्तवन करने लगे कि धिक्कार है इस दु खमय ससार को, जिसमें रहकर मनुष्य भोगोंमे वेसुध होकर किस प्रकार अपनी स्वल्प आयु व्यर्थ व्यतीत करदेता है। इतना चिन्तवन करना था कि उसी समय लौकान्तिक देव (वैराग्यमे सने हुए जीव) आए और प्रभुके वैराग्यकी दृढताके हेतु स्तुति करते हुये बोले हे प्रभु ! धन्य हैं आप आपने यह अच्छा विचार किया। आप जयवत होव। हे त्रिलोकी नाथ ! आप चरितमोहके उपशमतें वैराग्यरूप भए हो। आप धन्य हो। इस प्रकार स्तवन कर वे लौकान्तिक देव तो अपने स्थानको चले गए, परन्तु मोही इन्द्र फिर प्रभुको आभूषण पहिनाने लगा और पालकी सजाने लगा। अरे, जब विरक्त करवानेका ही उसका विचार था तो फिर आभूषणोंके पहिनानेको क्या आवश्यकता थी। विरक्त करवाता जारहा है और आभूषणभी पहिनाता जा रहा है। यह भी क्या न्याय है ? पर मोही जीव बताओ, भइया ! क्या करे। मोहमें तो मोहकी सी बातें सूझती है। उसमें ऐसा ही होता है।

वास्तवमें यदि देखा जाय तो विदित हो जायगा कि जगतका चक्र केवल एक मोहके द्वारा घूम रहा है। यदि मोह क्षीण हो

जाय तो आज ही जगतका अन्त आ जाय। इसका दृष्टान्त ऐसा है जैसे रेहटकी चक्की। एक आठ पहियोंकी चक्की होती है। उसको खींचने वाले दो बैल होते हैं और उनको चलाने वाला मनुष्य होता है। उसी तरह मनुष्य है मोह। वे दोनों बैल हैं राग द्वेष। उससे यह अष्ट-कर्मोंका संसार है जिससे चतुर्गतिरूप संसारमे यह प्राणी भटकता है।

एक मनुष्य था। वह किसी तेली का हंडा सिर पर लादे हुए उसके साथ चला जारहा था। मार्गमे वह सोचता जाता था कि इन पैसोंमे से एक मुर्गी मोल लूंगा। मुर्गीसे होंगे बच्चे, उन्हे वेचकर फिर एक बकरी खरीदूंगा उस बकरीसे जो बच्चे होंगे, उन्हे बेचकर एक गाय क्रय करूंगा। गायसे भी जो बच्चे होंगे उन्हे बेचकर फिर मैं अपनी शादी कर लूंगा। तदनन्तर एक मकान खरीदूंगा और उसमें आरामसे जीवन बिताऊंगा। काला-न्तर मे मेरे भी बच्चे होंगे और वे परस्पर खूब खेलेगे, कदाचित् झगड़ेंगे भी। झगड़ते झगड़ते जब वे मेरे पास आवेंगे तो मैं उनके यों तमाचा लगाऊंगा। हाथका उठाना हुआ कि मटकीका झट गिरना हुआ। उसी समय तेली कहने लगा 'क्योंजी ! तुमने हमारी मटकी फोड़ डाली।' तब वह क्रोधमें बोल उठा-'तुम्हारी मटकी फूटी तो क्या हुआ; यहां तो सारी गृहस्थी नष्ट होगई। यों मनुष्य शेखचिल्ली सी नाना प्रकारकी कल्पनाएं किया करता है। यह सब मोहके उदयकी बलवत्ता है। जहां मोह नहीं है वहां एक भी मनोरथ नहीं रह जाता। अतः 'मोहकी कथा अकथनी

और शक्ति अजेय है। पर पदार्थमें कर्तृत्वबुद्धि रखना अज्ञान है

अब कहते है कि मनुष्यको पर-पदार्थोंमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं रखनी चाहिये। कर्तापनेमे बड़ा दोष है। जब तक इस जीवके अहंकार (कर्तापने) की बुद्धि रहती है तब तक यह अज्ञानी है अप्रतिबुद्ध है। इसकी प्रवृत्तिसे बंध है तथा उसकी संतानसे अज्ञान है। मैं मैं करती हुई बेचारी बकरी वधावस्थाको प्राप्त होती है और मैना राजाओंके करों द्वारा पाली जाती है। तो अज्ञानतामें बड़ी भूल है। एक मनुष्य अज्ञानी गुरूके उपदेशसे छोटेसे भोंहरे में बैठके भैंसेका ध्यान करने लगा और अपनेको भैंसा मानकर दीर्घ शरीरके चिंतवनमे आकाशपर्यंत सींगोंवाला बन गया, तब इस चिंतामें पड़ा कि भोंहरे मे से मेरा इतना बड़ा शरीर किस प्रकार निकल सकेगा? ठीक यही दशा जीवकी अज्ञानके निमित्तसे होती है जो आपको वर्णादिस्वरूप मानकर देवादिक पर्यायोंमे आपा मानता है। भैंसा मानने वाला यदि अपनेको भैंसा न माने तो आखिर मनुष्य बना ही है। इसीप्रकार देवादिक पर्यायोंको भी जीव यदि आपा न माने तो अमूर्तीक शुद्धात्मा आप बना ही है। तदुक्तम्—

"वर्णाद्या वा राग मोहादयो वा भिन्ना भावा: सर्व एवास्य पुंस."

इस पुरुष अर्थात् आत्माके वर्णादि रागादिक अथवा मोहादि सर्व ही भाव (आत्मासे) भिन्न हैं।

अत: आत्माका कर्तृत्व स्वभाव नहीं। आत्मामे कर्तापना

नहीं है सो बात नहीं है। कर्तापना है, पर उसका स्वभाव नहीं है। अज्ञानसे कर्तापनेकी बुद्धि हो जाती है। जब ज्ञानी हो जाता है तब साक्षात् अकर्ता है। वह जानता है अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य कर्ता नहीं है। सब अपने अपने स्वभावके कर्ता है। देखिए कुम्हार घड़ेको बनाता है। हम आपसे पूछते हैं—कुम्हारने घड़ेमें क्या कर दिया? मिट्टीमें घड़े बननेकी योग्यता थी तभी तो कुम्हार निमित्त हुआ। यदि मिट्टीमे योग्यता न हो तो देखे बालूमें से तो घड़ा बनजाय। इससे सिद्ध होता है कि मिट्टीमे ही घड़ा बननेकी योग्यता थी तभी घड़ेकी शकल बनी। तो हम लोग उपादानकी ओर दृष्टिपात न करे केवल निमित्तोंको देखतेहै सो यह अज्ञान है'।

अब देखिए, स्त्री ने यों आटा गूंदा, उसकी लोई बनाई और लोईको लेकर चकले पर बेल दिया। विस्तार हुआ तो उस लोईमें उस स्त्री के हाथमें से क्या चला गया? उसने केवल इधर उधर हाथ अवश्य कर दिए। तो इससे सिद्ध होता है कि रोटीका परिणमन रोटीमें हुआ और स्त्रीका परिणमन स्त्रीमे। स्त्रीने रोटी में कुछ नहीं कर दिया पर व्यवहारसे हर कोई कहता है कि स्त्रीने रोटी बनाई। और भी जुलाहेने यों ताना डाला आतान वितान किया और कपड़ा बन गया। कपड़ेकी क्रिया कपड़ेमें हुई और जुलाहेकी क्रिया जुलाहेमे। पर व्यवहारसे ऐसा कहते हैं कि जुलाहेने कपड़ा बनाया। इसी तरह पुद्गल कर्मको परमार्थसे पुद्गल द्रव्य ही करता है और पुद्गल कर्मके

होनेके अनुकूल अपने रागादिपरिणामोंको जीव करता है उसके मिमित्त नैमित्तिक भावको देखकर अज्ञानीके यह भ्रम होता है कि जीव ही पुद्गल कर्मको करता है। सो अनादि अज्ञानसे प्रसिद्ध व्यवहार है। जब तक जीव और पुद्गलका भेदज्ञान नहीं होता तब तक दोनोंकी प्रवृत्ति एकसरीखी दीखती है।

समयसारकी टीकामें लिखा है—पुद्गल कर्मको जीव जानता है तो भी उसका पुद्गलके साथ कर्ता कर्म भाव नहीं है, क्योंकि कर्म तीन प्रकारसे कहा जाता है। या तो उस परिणाम रूप परिणमे वह परिणाम या आप किसीको ग्रहण करे वह वस्तु। या किसीको आप उपजावै वह वस्तु। ऐसे तीनोंही तरहसे जीव अपनेसे जुदे पुद्गल द्रव्य रूप परमार्थसे नहीं परिणमता; क्योंकि आप चेतनहै पुद्गल जड़ है, चेतन जड़ रूप नहीं परिणमता। पुद्गलको ग्रहण भी परमार्थसे नहीं करता, क्योंकि पुद्गल मूर्त्ती है आप अमूर्तिक है मूर्तिक द्वारा अमूर्तिकका ग्रहण योग्य नहीं है। तथा पुद्गलको परमार्थ से आप उपजाता भी नहीं; क्योंकि चेतन जड़को किस तरह उपजा सकता है? इस तरह पुद्गल जीव का कर्म नहीं है और जीव उसका कर्ता नहीं। जीवका स्वभाव ज्ञाता है वह आप ज्ञान रूप परिणमता उसको जानता है। ऐसे जानने वालेका परके साथ कर्ता कर्मभाव कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

आत्माके परिणाम आत्मामें होते हैं और पुद्गलके पुद्गलमें। वह तीन कालमें उसका कर्ता नहीं होता। यदि

आत्मा पुद्गल कर्मको करे , भोगे तो वह आत्मा इन दो क्रिया-ओंसे अभिन्न ठहरे, सो ऐसा जिनदेवका मत नहीं। आत्मा दो क्रियाओंका कर्ता नहीं है। जो कर्ता कहते है वे मिथ्यादृष्टि है। और भी लिखा है—

जो जम्हि गुणो दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

जो द्रव्य अपने जिस द्रव्य स्वभावमें तथा जिस गुणमें वर्तता है वह अन्य द्रव्यमे तथा गुणमे संक्रमण रूप नहीं होता-पलटकर अन्यमें नहीं मिल जाता— वह अन्यमे नहीं मिलता हुआ भी उस अन्य द्रव्यको कैसे परिणमा सकता है ? कभी नहीं परिणमा सकता, क्योंकि वह वस्तु स्थितिकी मर्यादाको भेदनेमे असमर्थ है। आत्मा पुद्गलमय कर्ममे द्रव्यको तथा गुणको नहीं करता, उसमे उन दोनोंको नहीं करता हुआ भी उसका वह कर्ता कैसे हो सकता है ?

कोई पूछे यह जीव फिर संसारी क्यों है ? तो बतलाते हैं कि इस जीवके अनादिकाल से मोहयुक्त होनेसे उपयोगके तीन परिणाम है वे मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति हैं। जैसे स्फटिक शुद्ध था पर हरित, नील और पीतादिकी डाक लगानेसे वह तीन रूप परिणमन करता है। वैसे ही इन तीनोंमे से जिस भावको यह आत्मा स्वयं करता है उसीका वह कर्ता होता है। संसार मे भी देखलो जब यह जीव मदिरा पीकर मतवाला हो जाता है तो मूर्तिक द्रव्यसे भी अमूर्तिकमे विकार परिणाम हो

जाता है। इस तरह यह आत्मा अज्ञानी हुआ किसीसे राग किसीसे द्वेष करता हुआ उन भावोंका आप कर्ता होता है। उसको निमित्त मात्र होने पर पुद्गल द्रव्य आप अपने भावकर कर्मरूप होके परिणमता है। और देखो, वेश्याने यहां नैन मटकाए, वहा तुम प्रसन्न होगए और अटीमेंसे रुपए निकाल कर दे दिए। अब क्या वेश्याने तुमसे कहा था? और भी रणमें बैंडका बाजा यहाँ बजता है और योद्धाओंमे वहा मारकाट शुरू होजाती है। यह बात प्रत्यक्ष है। तब यदि आत्माके भावोंका निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मपने रूप परिणमन कर जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

जीव और पुद्गल परिणामोंका परस्पर निमित्तमात्रपना है। तो भी परस्पर कर्ताकर्मभाव नहीं है तथा मृत्तिका जैसे कपडेकी कर्ता नहीं है वैसे अपने भाव कर परके भावोंके करनेके असमर्थपनेसे पुद्गलके भावोंकी कर्ता भी कभी नहीं है।

ज्ञानकी अद्भुद महिमा है। ज्ञान ज्ञेयको जानता है इसलिए ज्ञान नहीं है। अग्नि लकड़ीको जलाती है इसलिए अग्नि नहीं है कांटोंमे तीक्ष्णपना कौन लाया? नीममें कडवापन कहासे आया? अरे, वहतो स्वभावसे ही है। इसी तरह ज्ञान भी सहज स्वपर-प्रकाशक है। वह अपनेको जानता है तथा परको भी जानता है पर अनादिकालसे यह जीव ज्ञेय-मिश्रित ज्ञानका अनुभवन कर रहा है। जैसे हाथी मिष्ट पदार्थों तथा तृणोंको

एक साथ खाता है वैसेही यह जीव मिश्रित पदार्थोंके स्वादमें आनन्द मानता है। कभी एक खालिस ज्ञानका स्वाद नहीं लेता।

भावार्थ—कर्मके निमित्तसे जीव विभाव रूप परिणमते है, जो चेतनके विकार हैं वे जीव ही है और पुद्गल मिथ्यात्वादि कर्म रूप परिणमते है वे पुद्गलके परमाणु हैं तथा उनका विपाक उदय रूप हो स्वाद रूप होते हैं वे मिथ्यात्वादि अजीव है। ऐसे मिथ्यात्वादि जीव अजीवके भेदसे दो प्रकार हैं। यहां पर ऐसा है जो मिथ्यात्वादि कर्मकी प्रकृतिया हैं वे पुद्गल द्रव्यके परमाणु हैं उनका उदय हो तब उपयोग स्वरूप जीवके उपयोगकी स्वच्छताके कारण जिसके उदयका स्वाद आए तब उसीके आकार उपयोग हो जाता है तब अज्ञानसे उसका भेद-ज्ञान नहीं होता, उस स्वादको ही अपना भाव जानता है। सो इसका भेद-ज्ञान ऐसा है कि जीव भावको जीव जाने अजीव भावको अजीव जाने तभी मिथ्यात्वका अभाव होके सम्यग्ज्ञान होता है।

यदि कोई कहे कि व्याप्य व्यापक भावसे कर्ताकर्मका सम्बन्ध नहीं होता तो निमित्त नैमित्तिक भावसे तो होता है। सो कहते है जो कुछ घटादिक तथा क्रोधादिक पर-द्रव्य स्वरूप कर्म प्रगट देखे जाते हैं उनको यह आत्मा व्याप्य व्यापक भाव कर नहीं करता। जो ऐसे करे तो उनसे तन्मयपनेका प्रसंग आयगा। तथा निमित्त नैमित्तक भाव कर भी नहीं सकता? क्योंकि ऐसा करे तो सदा सब अवस्थाओंमें कर्तापनेका प्रसंग आजाय।

इन कर्मोंको कौन करता है ? सो कहते हैं–इस आत्माके योग (मन वचन कायके निमित्तसे प्रदेशोंका चलना) और उपयोग (ज्ञानका कषायोंसे उपयुक्त होना) ये दोनों अनित्य है सब अवस्थाओंमे व्यापक नहीं हैं। वे उन घटादिकके तथा क्रोधादि पर द्रव्यस्वरूप कर्मोंके निमित्तमात्र कर कर्त्ता कहे जाते है। योग तो आत्माके प्रदेशोंका चलन रूप व्यापार है और उपयोग आत्माके चैतन्यका रागादि विकार रूप परिणाम है। इन दोनों का कदाचित्काल अज्ञानसे उनको करनेसे आत्माको भी इनका कर्ता कहा जाता है; परन्तु परद्रव्य स्वरूप कर्मका तो कर्ता कभी भी नहीं है ऐसा निश्चय है। गीता मे लिखा है:—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

अर्थात् मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार है। उसके फलमें नहीं। कर्म करो परन्तु उसके फलकी आशा मतकरो। तो जैनधर्म कहता है कि फल की आशा तब करे जब कोई कर्म करे। कोई कर्म ही मत करो। किसी पदार्थमें कर्तृत्वबुद्धि ही तुम मत रखो। फलकी आशा तो दूर रही तुम किसी द्रव्यके कर्ता ही नहीं हो यह जैनधर्मकी अपनी एक निजी विशेषता है।

और तो और—भगवान भी तत्वोंके कर्ता (बनानेवाले) नहीं है। जैसे सूर्य पदार्थोंको बनानेवाला नहीं है। प्रकाश वाला है। वैसे ही भगवान भी तत्वोंको प्रकाश करने वाले हैं, बनाने वाले नहीं है।

अतः जो भी कार्य हो उसमे कर्तृत्व-बुद्धिको त्यागो और नित्योद्योत ज्ञानानदमयी एक अपनी आत्माको पहचानो, इसको जाने बिना हम अनादिकालसे पंच परिवर्तनके पत्र बने। और जब तक नहीं जानेगे तब तक भ्रमण नहीं मिटेगा। अब सुथल सुकुल पाकरके प्रमाद नहीं करना चाहिए। अपनी चीज अपने ही पास है। वह अन्यत्र कहीं नहीं है। एक आदमी ने एक से ऐसा कहा अरे तेरा कान कौआ लेगया। वह बेतहाशा हो कर कौए के पीछे दोड़ा। दूसरेने दौड़ने का कारण पूछा। उसने कहा एक अच्छे आदमीने कहा है कि कौआ कान लेगया। पर मूर्खने अपना हाथ उठा कर अपने कानको नहीं देखा। कान कहा चला गया था। अपने पास ही तो है। वैसे ही हम भी मोहमें फसकर ससार—दौड़की होड़ लगा रहे हैं पर मुक्ति यों कदापि न मिलेगी, जब तक हम अपनी ओर दृष्टिपात न करेगे। संसारमें जन्म लेना तभी सफल है जब हम उस आत्माको जानेगे और जाननेका प्रयत्न करेंगे।

१५ या २० मिनट अवश्य आत्म-चिंतवनमे लगाओ। उतना ही अनुभव करो जितना तुम्हारी शक्ति हो। गृहस्थीमें रहकर मुनिके सुखकी कल्पना मत करो। यदि तुम्हारे पास ५०) रुपए हैं तो पचासका ही सुख लो, करोड़पतिके सुखकी कल्पना मत करो। लोग कहते हैं कि मुनी कैसे परीषह सहन करते होंगे? अरे, परीषह सहनेमें क्या धरा है ?परीषह तो

वृक्ष भी रात दिन शीत घाम मेघको सहन कर लेते हैं । सबसे बड़ी बात तत्वकी है । यदि वह हो गयी तो परीषहमें कोई बड़ी बात नहीं । मुनियोंको घानीमें पेल दिया तो त्राहि न करी । अतः आत्मज्ञान । बड़दुर्लभ है । जिसको प्राप्त होगया वही धन्य है ।

"यतो न किञ्चित् ततो न किञ्चित् ।
यतो यतो यामि ततो न किञ्चित् ॥
विचार्य पश्यामि न जगन्न किञ्चित् ॥
स्वात्मावबोधादधिक न किञ्चित ॥"

न यहां कुछ है, न वहा कुछ है । जहा जहां जाता हूँ वहां कुछ नहीं है । मैं विचार कर देखता हूं तो जगतमें आत्म-ज्ञानके सिवाय और कुछ नहीं है ।

अब कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषोंको आत्माके सिवाय और कुछ ग्रहण न करना चाहिए । आत्मा आत्माहीके द्वारा ग्रहण करने योग्य है । इन्द्रियां अपने अपने विषयोंको ग्रहण करती हैं । करने दो, पर उन विषयोंसे रागद्वेष मत करो । कर्ण इन्द्रिय द्वारा सुनना होता है, रसनासे स्वाद लेना होता है, घ्राणसे सूंघना होता है स्पर्शनसे ठंडे, गरमका अनुभव होता है और आंखोंसे देखना होता है ये इन्द्रियोंके विषय हैं । इसके अलावा और कोई विषय होय तो बताओ । इन्द्रियोंका काम ही विषयोंमें प्रवर्तना होता है । चक्षु इन्द्रिय है । इसका काम देखनेका है ।

देख लिया चलो छुट्टी पाई। पर हा, उस देखनेमें किसी प्रकारका हर्ष विषाद मत करो। सूरदासने बाह्यमे अपनी आखें फोड़ लीं तो क्या होता है? अंतरगसे देखनेकी लालसा नहीं मिटी तो व्यर्थ है। इसी प्रकार मनमें भी इष्टानिष्ट कल्पना करो तो आकुलता है। पडित दौलतरामजीने कहा:—

"आत्मके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय"

वास्तवमे कषायही आत्माका अहित करने वाली है। जैसे बने वैसे कषायोंको कृश करनेका प्रयत्न करता रहे। रागादिक कषाय ही संसारको जन्म देती हैं। सनत्कुमार चक्री जब मुनि होगए, उस समय उनको किसी रोगने घेर लिया। स्वर्गोमें इन्द्रने अपनी सभामें चक्रवर्तीकी प्रशंसाकी और एक देव उनके परीक्षार्थ वहां आया। उसने वैद्यका रूप धारण कर लिया और मुनिसे बोला 'हम आपका रोग दूर कर सकते हैं।' मुनिने कहा 'इस शरीरके रोगको दूर करनेमे क्या है? हा, यदि रागादिक रोग दूर कर सकते हो तो उसका इलाज करो।' वह देव तुरन्त चरणोंमें पड़ गया और क्षमा माग कर चला गया। निष्कर्ष यह निकला कि आत्माके रागादिक विकार दूर करनेको कोई समर्थ नहीं। मनुष्य यदि स्वयं चाहे तो वह मेट सकता है।

संसार जालमे फंसाने वाला कौन है?' जरा अन्तर्दृष्टिसे परामर्श करो। जाल ही चिड़ियोंको फंसाता है ऐसी भ्रान्ति

डोरी बांधलिया फंसाता है यह भ्रम भी त्यागो, जिह्वेन्द्रिय फंसाती है यह अज्ञानता भी त्यागो, केवल चुगनेकी अभिलाषा ही फंसानेमें यंत्रभूत है। इसके न होने पर ये सब व्यर्थ हैं। इसी तरह इस दुःखमय संसारके जालमें फंसानेका कारण न तो यह बाह्य सामग्री है, न मन, वचन और कायका व्यापार ही है, न द्रव्यकर्म समूह है, केवल स्वकीय आत्मामें उत्पन्न रागादि परिणति ही संतापत्रिका कार्य कर रही है। अतः इसीका निपात (विनाश) करो।

जिस रोगको हमने पर्याय भर जाना और जिसके लिए दुनिया के वैद्य और हकीमोंको नब्ज दिखाई, उनके लिखे बने या बिके पदार्थोंका सेवन किया और कर रहे हैं, वह तो वास्तवमें रोग नहीं। जो रोग है उसको न जाना और न जाननेकी चेष्टाही की और न उस रोगके वैद्यों द्वारा निर्दिष्ट रामबाण औषधिका प्रयोग किया। उस रोगके मिट जानेसे यह रोग सहज ही मिट जाता है। वह रोग है राग और उसके सद्वैद्य हैं वीतराग जिन। उनकी बताई औषधि है १ समता २ परपदार्थोंमें ममत्वका त्याग और ३ तत्त्वज्ञान। यदि इस त्रिफलाको शान्ति रसके साथ सेवन करे और कषाय जैसी कटु तथा मोह जैसी खट्टी वस्तुओंका परहेज किया जाय तो इससे बढ़कर रामबाण औषधि और कोई हो नहीं सकता।

आत्म भावना

सहज शुद्धज्ञान आनन्दस्वरूप निर्विकल्प और उदासीन ऐसा जो अपना स्वभाव है उसका अनुभव और ज्ञान और प्राप्ति किस प्रकार होती है अब उसकी भावना कहते हैं—

निज-निरंजन-शुद्धात्मसम्यक्‌श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चय-रत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानन्दरूपसुखा-नुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन स्वसंवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहम्" अर्थात् मैं निज निरंजन शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान अनुष्ठान रूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्वि-कल्प समाधिसे उत्पन्न वीतराग सहजानन्द रूप सुखकी अनुभूति-मात्र जिसका लक्षण स्वरूप है ऐसे स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा स्वसंवेद्य, गम्य प्राप्य, भरितावस्थ हूँ। ऐसी आत्माकी भावना करनी चाहिए। इस प्रकार पहिले स्वभावसे भरा हुआ परिपूर्ण हूँ ऐसा 'अस्ति' से कहा अब मेरा स्वभाव सर्व विभावोंसे रहित शून्य है ऐसा नास्तिसे कथन करते है।

"रागद्वेष— मोह-क्रोध-मान-माया-लोभ-पञ्चेन्द्रियविषय-व्यापार-मनोवचनकायव्यापार-भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्म-ख्याति— पूजा-लाभ—दृष्टश्रुतानुभूतभोगकांक्षारूप—निदान-माया-मिथ्या-शल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितशून्योऽहम्।' अर्थात् मैं सर्व विभावपरिणामोंसे रहित शून्य हूँ ऐसी अपनी आत्माकी भावना करनी चाहिए।

'जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायै. कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयनयेन तथा सर्वेऽपि जीवा इति निरंतरं भावना कर्तव्येति।' अर्थात् तीन लोक और तीन कालमें शुद्धनिश्चयनयसे ऐसा (स्वभावसे पूर्ण और विभावसे रहित) हूँ तथा समस्त जीव ऐसे ही हैं। ऐसी मन, वचन, कायसे तथा कृत कारित अनुमोदनासे निरन्तर भावना करना योग्य है।

आगे सांख्यमतका निरूपण करते हुए बतलाते हैं कि इनका कहना कहां तक उचित है? वे कहते हैं कि कर्म ही सब कुछ करता है—कर्म ही ज्ञानको ढकता है, क्योंकि ज्ञानावरणकर्मके उदयसे ज्ञान प्रकट नहीं होता, कर्म ही ज्ञानको बढ़ाता है, क्योंकि ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ज्ञानका विकास होता है। कर्मही मिथ्यात्वोदयसे पदार्थको विपरीत दिखलाता है जैसे कामलारोग वालेको शंख पीला दिखता है इत्यादि कर्म सब कुछ करता है, आत्मा अकर्ता है। ऐसे सिद्धान्त मानने वालेको कहते हैं कि आत्मा बिल्कुल अकर्ता नहीं है। यदि अकर्ता हो जाय तो राग द्वेष मोह ये किसके भाव होंय? यदि पुद्गलके कहो तो वह तो जड़ स्वभाववाला है। जड़में रागद्वेष क्रिया होनी नहीं। अतः इस जीवके अज्ञानसे मिथ्यात्वादि भाव परिणाम हैं वे चेतन ही हैं जड़ नहीं है। इसलिए कथंचित् आत्मा कर्ता है और कथंचित् अकर्ता है। अज्ञानसे जब यह जीव रागद्वेषादिक भाव करता है तब वह कर्ता होता है और जब ज्ञानी होकर भेदज्ञानको

प्राप्त हो जाता है तब साक्षात् अकर्ता होता है। इसलिए चेतन कर्मका कर्ता चेतनही होना परमार्थ है वहां अभेददृष्टिमे तो शुद्ध चेतनमात्र जीव है परन्तु कर्मके निमित्तसे जब परिणमता है तब उन परिणामों कर युक्त होता है। उस समय परिणाम परिणामीकी भेददृष्टिमे अपने अज्ञानभाव परिणामों का कर्ता जीवही है और अभेददृष्टिमे तो कर्ता कर्म भाव ही नहीं है शुद्ध चेतनमात्र जीव वस्तु है। इसलिए चेतन कर्मका कर्ता चेतनही है अन्य नहीं। श्री समन्तभद्राचार्य देवागममें लिखते हैं कि:—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥

पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है अतः यदि पदार्थको सामान्यापेक्षा देखा जाय तो वह एक रूप ही दिखाई देगा और विशेषकी अपेक्षासे उसमें नानापना दिखलाई देगा। जैसे एक मनुष्य है। वह क्रमसे पहले बालक था, बालकसे युवा हुआ और युवासे वृद्ध हुआ। यदि सामान्यसे विचारो तो एक चेतनमात्र जीवही है परन्तु विशेष दृष्टिसे देखो तो वह बालक है, फिर युवा है और वही वृद्ध भी है ऐसा व्यवहार होता है। इसी तरह ज्ञायक स्वभावकी अपेक्षा तो आत्मा अकर्ता है परन्तु जब तक भेद-ज्ञान न हो तब तक मिथ्यात्वादि भाव कर्मोंका कर्ताही मानना उचित है। इस तरह एक ही आत्मामें कर्ता

अकर्ता दोनों भाव विवक्षाके वशसे सिद्ध होते हैं। यह स्याद्वाद मत है तथा वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है कल्पना नहीं है।

'द्रव्यदृष्टिसे विचारो तो सब आत्मायें शुद्ध मिलेंगी पर नय विवक्षासे देखो, तो नाना प्रकारके भेद दिखेंगे। ये नय पर्यायदृष्टि कर देखे जावें तो भूतार्थ ही हैं। अतः उनको उन्हीं रूपसे जानना सत्यार्थभी है। सामान्यरूपसे जीव एक है परन्तु पर्यायदृष्टिसे उसमें नानापना असत्य नहीं, तात्त्विक ही है तथा जीवके गुणोंमें जो विकार होता है उसके जानेसे गुणकी शुद्ध अवस्था रह जाती है, अभाव नहीं होता है। जैसे जलमे पकका सम्बन्ध होनेसे मलिनता आ जाती है पकके अभावमें जलमें जैसे स्वच्छता आ जाती है एवं आत्मामे मोहादि कर्मके विपाकसे विकृतावस्था हो जाती है। इस विकृतावस्थामें उनमे नानापन दीखता है, उसका यदि इस अवस्थामे विचार किया जावे तब नानापन सत्यार्थ है, किन्तु वह औपाधिक है अतः मिथ्या है, न कि स्वरूप उसका मिथ्या है। यदि स्वरूप मिथ्या होता तब ससार नाशकी आवश्यकता न थी। अतः नय विवक्षासे पदार्थों को जानना ही संसारसे मुक्तिका कारण है।

अब कहते हैं इस मनुष्यको अनादिकालसे जीव और पुद्गलका एकत्व अभ्यास हो रहा है। अनात्मीय पदार्थोंमे आत्मीय बुद्धि मान रहा है। कभी इससे खालिस ज्ञानका स्वाद नहीं लिया। ज्ञेय मिश्रित ज्ञानका अनुभव किया। केवल

ककड़ीके खानेमें स्वाद नहीं आता पर नमक मिर्चके साथ खानेमे आनन्द मानता है, क्योंकि इसको वही मिश्रित पदार्थोंके खानेकी जो आदत पड़ी हुई है अब खानेमे केवल ज्ञानका ही परिणमन होता है पर उस ज्ञानको छोड़ हम परपदार्थोंमे सुख मान लेते हैं। यही अज्ञानकी भूल पड़ी है। आचार्योंने इसलिए रस-परित्याग तप बतलाया है कि इस जीवको खालिस एक पदार्थके स्वादका अभ्यास पड़े। ऐसी ज्ञानमयी आत्माको छोड़ यह जीव अनन्त संसारका पात्र बनरहा है। पुद्‌गलमे जीवत्वका आरोप कर रहा है। अन्धकारमे रज्जुको सर्प मान रहा है। गिर रहा, पड़ रहा और नाना प्रकारके दुःखभी उठा रहा, पर फिरभी अपनी अज्ञानताको नहीं मेटता। शरीरसे भिन्न अपनी आत्माको नहीं पहचानता। यदि एक भी बार उस ज्ञानमयी आत्माका अनुभव होजाय तो कल्याण होनेमें कोई विलम्ब न लगे। केवल अपनी भूलको सुधारना है।

एक स्त्री थी जब उसका पति परदेश जाने लगा तो उसने उसको एक बटिया दी इस विचारसे कि कहीं वह खोटे आचरणोंमे न पड़ जावे और कहा कि इसको पहिले अपने सामने रखके कोई भी पाप कार्य न करनेकी प्रतिज्ञा करना तत्पश्चात् इसकी पूजाकर और फिर भोजन करना। वह आदमी उस बटियाको लेकर चल दिया। मार्गमे एक स्थान पर विश्राम किया और जब भोजन का समय हुआ तो उसने उस बटियाको

निकाल कर अपने सामने रक्खा और वैसा ही जैसा कि उसकी स्त्रीने कहा था पाप न करनेका वचन दिया। जब वह पूजा पूर्णकर भोग लगा रहा था, उसी समय एक चूहा आया और उस भोग को खाने लगा। उसने सोचा-अरे, इस बटियासे तो चूहा ही बड़ा है, झट उस चूहे को पकड़ लिया और एक पिंजरेमें बन्द कर उसकी पूजा करना शुरू कर दिया। एक दिन अकस्मात् बिल्ली आई। चूहा उस बिल्लीको देखकर दबक गया। उसने सोचा अरे, इस चूहेसे तो बिल्ली ही बड़ी है; उसको पकड़कर बाध लिया और उसकी पूजा करने लगा। एक दिन आया कुत्ता-कुत्तेको देखकर वह बिल्ली दबक गई। उसने फिर सोचा अरे, इस बिल्लीसे तो कुत्ता बड़ा है। उसने कुत्तेको पकड़कर बांध लिया और उसकी पूजा शुरू कर दी। अब वह परदेशसे कुत्तेको साथ लेकर अपने घर लौट आया। एक दिन उसकी स्त्री रोटी बना रही थी, वह कुत्ता लपककर चौकेमें घुस गया। स्त्रीने उसके मारा एक डंडा और वह भों भों करके भाग गया। उसने सोचा-अरे, कुत्तेसे तो यह स्त्री ही बड़ी है। अब वह उस स्त्रीको पूजने लगा—उसकी धोती धोना, उसका साज शृंगारादिक करना। एक दिन उसकी स्त्री खाना बनाते समय शाकमें नमक डालना भूल गई। जब वह आदमी खानेको बैठा तो उसने कहा 'आज शाकमे नमक क्यों नहीं डाला ?' वह बोली 'मैं भूल गई।' उसने कहा—क्यों भूल गई और एक थप्पड़ मारा। वह

स्त्री रोने लगी। उसने सोचा अरे, मैं ही तो बड़ा हूँ; यह स्त्री तो मुझसे भी दुबक गई। आखिर उसको अपनी भूलका ज्ञान हो गया। तो वास्तवमें जिसने अपनेको पहिचान लिया, उसके लिए क्रोध, मान, माया, लोभ क्या चीज है? हम दूसरोंको बड़ा बनाते हैं कि अमुक बड़े है, तमुक बड़े हैं, पर मूर्ख अपनी ओर दृष्टिपात नहीं करता। अरे, तुझसे तो बड़ा कोई नहीं है। बड़ा बननेके लिए बड़े कार्य कर। वास्तवमें अपनेको लघु मानना तो महती अज्ञानता है कि हम क्या हैं? किस खेतकी मूली है? यह तो महान् आत्माको पतित बनाना है। उसके साथ अन्याय करना है। अरे, तुझमें तो अनंतज्ञानकी शक्ति तिरोभूत है। अपनेको मान तो सही कि मुझमें परमात्मा होनेकी शक्ति विद्यमान है। आत्मा निर्मल होनेसे मोक्षमार्गकी साधक है और आत्माही मलिन होनेसे संसारकी साधक है। अतः जहां तक बने आत्माकी मलिनताको दूर करनेका प्रयास करना हमारा कर्तव्य है।

देखिए, 'पंकापाये जलस्थनिर्मलतावत् ।' जलके ऊपर काई आ जानेसे जल मलिन दिखता था और जब काई दूर हो गई तो जल स्वच्छका स्वच्छ हो गया। उसकी स्वच्छता कहीं और जगह नहीं थी केवल काई लग जानेसे उसमें मलिनता थी सो जब वह दूर हुई तो जल स्वतः स्वच्छ हो गया। अब देखो, यह कपड़ा है इसपर यह चिकनाई लगी हुई है इस चिकनाईकी

वजहसे उसमें धूलके कण लग गए जिससे वह मलिन होगया। पर जब सोडा साबुन लगा कर उसे साफ कर दिया गया तो वह वस्त्र स्वच्छ हो गया। तो उस वस्त्रमें स्वच्छता थी तभी तो वह उजला हुआ, नहीं तो कैसे होता? हां, उस वस्त्रमे केवल बाह्य मलिनता अवश्य आ गई थी, उसके धुल जानेसे वह जैसा था वैसा होगया। इसी तरह आत्मा भी रागद्वेषादिकके संयोगसे विकारको प्राप्त हो रही थी, उस विकारताके मिट जानेसे वह जैसी थी वैसी हो गई। अब देखो उस वस्त्रमें जो चिकनाई लग रही है, यदि वह नहीं मिटे और ऊपरसे चाहे जितना जलसे धो डालो तो क्या होता है? क्योंकि उस चिकनाईकी वजहसे वह फिर मलिनका मलिन हो जायगा। इसी तरह आत्माके जो रागद्वेषादि है यदि वह नहीं मिटे और ऊपर शरीरको खूब सुखाने लगे तपश्चरण करने लगे तो क्या होता है? तुषमासभिन्न ज्ञान हुआ नहीं, और उस तुषको ही पीटने लग गए तो बताओ क्या होता है? अन्तरगकी रागद्वेष परिणति नहीं मिटी वो पुनः वही देह धारण है। पर्यायको मिटानेका प्रयत्न नहीं है पर जिन कारणोंसे पर्याय उत्पन्न हुई उन्हे मिटानेकी आवश्यक्ता है। उसका ज्ञान अनिवार्य है। जैसे मिश्री है। यदि उसे नहीं चखो तो कैसे उसका स्वाद आए कि यह मीठी होती है। उसी तरह रागका भी यदि अनुभव न होय तो क्या उसे मिटानेका प्रयत्न होय? "प्रीतिरूपपरिणामो राग."। प्रीति रूप परिणामका होना

राग है। और अप्रीति रूप परिणामका होना यह द्वेष है। संसारका मूल कारण यही राग द्वेष है। इस पर जिसने विजय प्राप्त करली उसके लिए शेष क्या रह गया ?

सच्चा पुरुषार्थ

अब कहते हैं कि आत्माको पहिचानना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। घर छोड़कर तीर्थस्थानमें रहनेमें पुरुषार्थ नहीं, पण्डित महानुभावोंकी तरह ज्ञानार्जन कर जनताको उपदेश कर सुमार्गमें लगाना पुरुषार्थ नहीं, दिगम्बर वेष भी पुरुषार्थ नहीं सच्चा पुरुषार्थ तो यह है कि उदयके अनुसार जो रागादिक होवे हमारे ज्ञानमें भी आवें उनकी प्रवृत्ति भी हममें हो; किन्तु हम उन्हें कर्मज भाव समझकर इष्टानिष्ट कल्पनासे अपनी आत्माकी रक्षा कर सकें। लोग कहते हैं कि हमें शान्ति नहीं मिलती। अरे, तुम्हें शान्ति मिले तो कैसे मिले ? एक क्षण रागादिकसे निवृत्त होकर शान्ति मुद्रासे बैठकर तो देखो कैसा शांतिका समुद्र उमड़ता है ? न कुछ करना ही आत्माका काम है। मन वचन-कायके योग भी आत्माके नहीं हैं। वह तो एक निर्विकल्पभाव है।

लोग कहते हैं कि आत्माकी महिमा अनन्तशक्तिमें है। अरे, उसकी महिमा अनन्तशक्तिमें नहीं। मैं तो कहता हूं कि पुद्गलमें भी अनन्तशक्ति है। देखलो, केवलज्ञानावरण कर्मने आत्माके केवलज्ञानको रोक लिया है। पर आत्मामें भी वह शक्ति है जो सम्यग्दर्शन पैदा करके अन्तर्मुहूर्तमें कर्मोंका नाश कर परमात्मा बन जाय। तो उसकी महिमा अनन्त शक्तिमें नहीं।

उसका काम केवल देखना और जानना मात्र है। और देखना जानना भी क्या है? वह चीज जैसी है वैसी ही है।

लोग अपनेको कर्मों पर छोड़ देते हैं। वे कहते हैं क्या करें हमारे कर्ममें ही ऐसा लिखा था—कितनी अज्ञानता और कायरता है। जैसा कि अन्यमती कहते हैं, क्या करें भगवानको ऐसा ही मंजूर था वैसे ही ये लोग भी कर्मोंके मत्थे सारा दोष मढ़ते हैं। पुरुषार्थ पर किंचित् भी ध्यान नहीं देते। जिस आगममें पुरुषार्थ का इतना विशद वर्णन हो उसको ये लोग भूल जाते हैं। अरे, कर्मोंको दोष देनेसे क्या होगा? जो जन्मार्जित कर्म है उसका तो फल उदयमें आएगा ही। भगवानको ही देखो। मोह नष्ट हो चुका, अर्हंत पदमें विराजमान हैं। पर फिर भी दंड कपाट करो। दंडाकार हो कपाट रूप हो प्रतर करो और लोकपूरण करो। यह सब क्या है? वही जन्मार्जित कर्म ही तो उदयमें आकर खिर रहे हैं तो कर्मोंके सहारे रहना ठीक नहीं है। पुरुषार्थ भी कोई चीज है। जिस पुरुषार्थसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होय उस पुरुषार्थकी ओर ध्यान न दो तो यह अज्ञानता ही है। समयसारमें लिखा है:—

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतस्तत्त्वं समुत्पश्यतो।
नैकं द्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित्॥
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः।
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः॥ २२॥

अर्थ— आचार्य कहते है कि जिसने शुद्धद्रव्यके निरूपणमें बुद्धि लगाई है और जो तत्वको अनुभवता है ऐसे पुरुषके एक द्रव्यमे प्राप्त हुआ अन्य द्रव्य कुछ भी कदाचित् नहीं प्रतिभासता तथा ज्ञान अन्य ज्ञेय पदार्थोंको जानता है सो यह ज्ञानके शुद्ध स्वभावका उदय है। ये लोक है वे अन्य द्रव्यके ग्रहणमे आकुल बुद्धि वाले हुए शुद्धस्वरूपसे क्यों चिगते हैं ? तो उस स्वरूपकी ओर ध्यान दो। परन्तु मोह ? तेरी महिमा अचिन्त्य है, अपार है जो संसार मात्रको अपना बनाना चाहता है। नारकी की तरह मिलनेको तो कण भी नहीं, परन्तु इच्छा संसार भरके अनाज खानेकी होती है। -

अब देखिए, इस शरीर पर तुम यह कपड़ा पहिनते हो तो क्या यह कपड़ा तुम्हारे अन्दर प्रवेश करता है ? पर मोही जीव उसे अपना मान बैठते है। और चोट्टापन क्या है ? दूसरी चीज़ को अपनी मान लेना यही तो चोट्टापन है इस दुपट्टेको हमने अपना मान लिया जभी तो चोर हो गये' नहीं तो समझते पराया है। पर मोह मदिरामे ऐसा ही होता है। तुमने उसकी सी बात कही और उसने उसकी सी। इस तरह उस शुद्धस्वरूपकी ओर ध्यान ही नहीं देते। देखिए यह घड़ी हमने ले ली। इससे हम अपना काम भी निकाल रहे है। पर अन्तरंगसे यही समझते हैं कि अरे, यह तो पराई है। उसी तरह रागादिकोंसे यदि जरूरत

पड़े तो काम भी निकाल लो पर अन्तरगसे यही जानो कि अरे यह तो पराई है। और जब तक भइया पर को पर और अपने को अपना नहीं समझा तब तक कल्याण भी कैसे होयगा ? यदि रागादिकोंको अपनाते रहोगे तो कैसे बंधनसे छूटना होगा बतलाइए। अत. रागादिकोंको हटानेकी आवश्यकता है। कैसी भी आपत्ति आजाय, समझो यह भी कर्मों का कर्जा है। समभाव से उसे सहन करलो। हां, उसमें हर्ष-विषाद मत करो। यह तुम्हारे हाथ की बात है। और भइया ! रागादिक नहीं हटे तो मनुष्यजन्म पानेका फल ही क्या हुआ ? संसार और कोई नहीं, रागादिक परिणति ही ससार है और उसका अभावही समयसार है।

स्वामी समन्तभद्राचार्य युक्त्यनुशासन के अन्तमे लिखते हैं-कि 'हे प्रभो ! में आपकी स्तुति रागसे नहीं करता हू, क्योंकि गुणीके गुणोंमें अनुरागका होना यही भक्ति कहलाती है। तो आपका गुण तो वीतराग है।इसलिए मैं उस वीतरागताका उपासक हूँ न कि रागका। और भी आगे उन्होंने लिखा कि मैं अन्य मतोंका

१. न रागान्न स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ।
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता।
किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां।
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासङ्गगदितः॥ ६४॥

क्यों खंडन करता हूँ? इसीका यह मतलब नहीं कि मैं उनसे किसी प्रकारका द्वेष करता हूँ बल्कि इसलिये कि मैं न्याय और अन्याय मार्गको बतलाना चाहता था कि यह न्याय मार्ग है और यह अन्याय मार्ग है। मेरा केवल इतना ही उद्देश्य था। तुम चाहे तो न्याय मार्गको अपना लो चाहे अन्याय मार्गको। यह तुम्हारे हाथकी बात है।

अतः मनुष्यको अभिप्राय निर्मल रखनेकी चेष्टा करनी चाहिए। उसी की सारी महिमा है। श्रेणिक राजाको ही देखिए जब वह मुनिराजके गलेमें मरा हुआ सर्प डाल आए तो रानीसे जाकर सर्व हाल कह दिया। रानीने कहा अरे तुमने यह क्या किया? राजा बोला वह तो गलेसे उतारकर फेंक देगा, रानीने कहा, नहीं, यदि वे सच्चे हमारे मुनि होंगे तो नहीं फेंक सकते, नहीं फेंक सकते। यदि फेंक दिया होगा तो वह नंगा होते हुएभी हमारा मुनि नहीं। वहाँ दोनों जाकर पहुंचे तो देखा कि उनके गले मे सर्पके कारण तमाम चीटियां चिपक गई हैं। दूरसे देखते ही राजाके हृदयमें वह साम्यभावकी मुद्रा अङ्कित हो गई। उसने मनमे सोचा कि मुनि है तो सचमुच यही है। रानीने उसी समय मुनिके समीप पहुँचकर खांड द्वारा उन चीटियोंको दूर किया। तो मतलब यही कि महिमा तो उसकी तभी हुई जब उसके हृदय में साम्यभाव जाग्रत हुआ। और शास्त्रमे भी क्या लिखा है? मनुष्यके अभिप्रायोंको निर्मल बनानेकी चेष्टा ही तो है। प्रथमानु-

योगमें वही पाप पुण्यकी कथनी है और चरणानुयोगमें भी वही मनुष्यके चारित्रका वर्णन है। गुणस्थान क्या हैं ? मनुष्यके परिणामोंकी ही परिणति तो हैं। पहिले गुणस्थान मिथ्यात्वसे लेकर चौदहवें गुणस्थान अयोगी पर्यंत मनुष्यमें ही तो समाते हैं। देवोंमें ज्यादासे ज्यादा चौथा गुणस्थान है। तिर्यंचोंमें पांचवें तक और नारकियोंमें ज्यादासे ज्यादा चौथा है। तो मनुष्य यदि चाहे तो संसारको संततिको निर्मल कर सकता है। कोई बड़ी बात नहीं। एक ने कहा रामायण तो सब गप हैं। उसमें सब कपोल-कल्पित कल्पनाएं भर रही हैं। दूसरा बोला यदि उसमें कल्पनाए हैं। तो यह तो मानोगे कि रावणने खोटा काम किया तो लोक-निंदाका पात्र हुआ और रामने लोकप्रिय कार्य किया तो सुयशका अर्जन किया। वह बोला हां इसमें कोई आपत्ति नहीं। तो शास्त्र वाचनेका फल तो यह हुआ कि अपने को सुधारने की चेष्टा करे। भगवानकी मूर्तिसे भी यही शिक्षा मिलती है कि अपनेको उसीके अनुसार बनाए। उन्होंने रागद्वेष हटाया, मध्यस्थ रहे तुम भी वैसा ही करो। मध्यस्थ बननेका यत्न करो। गुरू और क्यों पुज जाते हैं ? उन्होंने वही समता भाव धारण किया। लिखा भी है—

अरि मित्र महल-मसान-कंचन-कांच-निन्दन थुतिकरण।
अर्घावतारण-असि-प्रहारणमे सदा समता धरण॥

मनुष्यको परिणामोंमे समता धारण करना चाहिए। तुम्हारे दिलमे यदि प्रसन्नता हुई तो कह दिया कि भगवान् आज तो प्रसन्न मुद्रामे हैं। वैसे देखा जाय तो भगवान् न तो प्रसन्न है और न रुष्ट। अपने हृदयकी प्रसन्नता को तुमने भगवान् पर आरोप कर दिया कि आज तो हमें मूर्ति प्रसन्नमना दिखाई देती है। पर देखो तो वह जैसेकी तैसी ही है अतः मनुष्य यदि अपने परिणामों पर दृष्टिपात करे तो संसार बंधनसे छूटना कोई बड़ी बात नहीं है।

हम ही लोग अपनी शान्तिके बाधक है। जितने भी पदार्थ संसारमे है उनमे से एक भी पदार्थ शान्त-स्वभावका बाधक नहीं। बर्तनमे रक्खी हुई मदिरा अथवा डिब्बेमे रक्खा हुआ पान पुरुषमे विकृतिका कारण नहीं। पदार्थ हमे बलात्कार से विकारी नहीं करता, हम स्वयं विकल्पोंसे उसमे इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी और दुःखी होते हैं। कोई भी पदार्थ न तो सुख देता है और न दुःख देता है, इसलिए जहा तक बने आभ्यन्तर परिणामोंकी विशुद्धता पर सदैव ध्यान रहना चाहिए।

आगे कहते हैं कि ब्रह्मचर्यव्रत ही सर्व व्रतोंमे उत्तम है। इसके समान और कोई दूसरा व्रत नहीं है। जिसने इस व्रत को पाल लिया उसके अन्य व्रत अनायास ही सध जाते हैं। पर इस व्रतका पालन करना कोई सामान्य बात नहीं है। स्त्री विषयके राग का जीतना बड़ा कठिन है। पहिले पार्सी थिएटर चलते थे।

एक थियेटरमें एक पार्सी था; उसकी स्त्री बड़ी खूबसूरत थी। वे दोनों स्टेज पर अपना खेल जनताको बतलाते थे। एक दिन वह स्त्री स्टेज पर अपना पार्ट कर रही थी। एक मनुष्यने एक कागज पर कुछ लिखकर स्टेज पर फेंक दिया। उस स्त्रीने उस कागज को उठाकर बांचा। बाँचकर उस कागजको दियासलाईसे जलाकर अपने पैरोंसे कुचल दिया। इधर तो उसने कागजको कुचल दिया और उधर उस मनुष्यने कटारसे अपना गला काट लिया। तो स्त्री संबन्धी राग बड़ा दुखदायी होता है। एक पुस्तकमें लिखा है.— संसारमें शूरवीर कौन है? उत्तरमें बतलाया—जो तरुण स्त्रियोंके कटाक्ष बाणोंसे बीधा जाने पर विकार भावको प्राप्त नहीं हुआ। वास्तवमें शूरवीर तो वही है।

और स्त्रीसंबन्धी भोग भी क्या है? उसमें कितनी देरका सुख है। अन्तमें तो इससे वैराग्य होता ही है। आपके सुदर्शन सेठकी कथा तो आगममें ही लिखी है। भर्तृहरिको ही देखिए। उनकी स्त्रीका नाम पिंगला था। एक बार अपनी प्रियतमा स्त्रीका दुष्टचरित देखकर वे संसारसे विरक्त होकर योगी हो गए थे। स्त्रीके विषय में उस समय उन्होंने यह श्लोक कहा था:—

"या चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता।
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः॥
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या।
धिक् तां त च मदनं च इमां च मां च॥"

अर्थात् जिसका मैं निरन्तर चिन्तवन किया करता हूँ वह मेरी स्त्री मुझसे विरक्त है। इतना ही नहीं किन्तु दूसरे पुरुष पर आसक्त है और वह पुरुष किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त है तथा वह दूसरी स्त्री मुझपर प्रसन्न है। अतएव उस स्त्रीको उस पुरुष को उस कामदेवको इस (मेरी स्त्रीको) को और मुझको भी धिक्कार है। कार्तिकेयमुनिने कार्तिकेयानुप्रेक्षाके अन्तमें पांच बाल ब्रह्मचारियों को ही नमस्कार किया है।

तो इस रागसे विरक्त होना अत्यन्त कष्टसाध्य है। और जिसको विरक्ति हो जाती है उसके लिए भोगोंका छोड़ना कोई बड़ी बात भी नहीं होती। पंडित ठाकुरप्रसाद जी थे। वे दो विषयोंके आचार्य थे। उनकी दूसरी स्त्री बड़ी खूबसूरत थी। पंडित जी उस पर पूर्ण आसक्त थे। उस समय उनकी आय ५०)रु० माहवार थी तो उस ५०)रु० में से वे १०) रु० मासिक अपनी स्त्री को देते थे। जब उनकी तरक्की १००) रु० मासिक हुई तो वे २०) रु० उसको देने लगे। और वह स्त्री सब रुपया गरीबोंको बांट दिया करती थी। जब उनके ५००) माहवार हुए तो १००) रु० उसे देने लग गए। उन रुपयोंको भी वह दानमें दे दिया करती। एक दिन पंडितजी ने कहा—'देखो पैसा बहुत कठिनतासे कमाया जाता है। तुम दानमें व्यर्थ ही इतना रुपया दे दिया करती हो। वह बोली—पंडितजी कौन हम आपसे रुपया मागने जाती हैं। तुम्हारी खुशी होती है तो तुम स्वयंही देते हो।'

एक दिन की बात है। स्त्रीने पंडितजी को बुलाकर कहा—देखो आज तक हमने आपके साथ इतने दिनों तक भोग भोगे पर हमें विषयोंमें कुछ भी मजा नहीं आया। ये आपके दो बाल बच्चे हैं। संभालिए। आजसे तुम हमारे भाई हुए और हम तुम्हारी बहिन हुई। पण्डितजी ऐसे वचनोंको सुनकर अवाक् रह गए। अन्तमें, वह उससे बोले 'बहिन तुमने मुझे आज चेतावनी देकर संभाल लिया नहीं तो मैं भोगोंमें आसक्त होकर न जाने कौनसी दुर्गतिका पात्र होता।' तो भोगोंसे विरक्त रहने ही में मनुष्यकी शोभा है। स्त्री सम्बन्धी रागका घटना ही सर्वस्व है। जब इस सम्बन्धी राग घट गया तब अन्य परिग्रहसे तो सुतरां अनुराग घट जाता है।

संसार वृद्धिका मूल कारण स्त्रीका समागम ही है। स्त्री समागम होते ही पाचों इन्द्रियोंके विषय स्वयमेव पुष्ट होने लगते हैं। प्रथम तो उसके रूपको देखकर निरन्तर देखनेकी अभिलाषा रहती है, वह सुन्दर रूपवाली निरन्तर बनी रहे, इसके लिए अनेक प्रकारके उबटन तेल आदि पदार्थोंके संग्रहमें व्यस्त रहता है। उसका शरीर पसेव आदिसे दुर्गन्धित न होजाय अतः निरन्तर चंदन, तेल इत्र आदि बहुमूल्य वस्तुओंका संग्रह कर उस पुतलीकी सम्भालमें संलग्न रहता है। उसके केश निरन्तर लम्बायमान रहें अतः उनके अर्थ नानाप्रकारके गुलाब, चमेली, केवड़ा आदि तेलोंका उपयोग करता है। तथा उसके सरस कोमल

मधुर शब्दोंका श्रवण कर अपनेको धन्य मानता है और उसके द्वारा सम्पन्न नाना प्रकारके रसास्वादको लेता हुआ फूला नहीं समाता। कोमलांगको स्पर्श करके तो आत्मीय ब्रह्मचर्यका और बाह्यमें शरीर-सौन्दर्यके कारण वीर्यका पात होते हुएभी अपनेको धन्य मानता है। इस प्रकार स्त्री के समागम से ये मोही पंचेन्द्रियों के विषयों से मकड़ीकी तरह जालमे फस जाते हैं।

मत्तेभ कुम्भ-दलने भुवि सन्ति शूराः।
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः॥
किन्तु ब्रवीमि बलिना पुरतः प्रसह्य।
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥

अर्थात्—संसारमे मदोन्मत्त हस्तीके कुम्भस्थल विदारण करने वाले शूरवीर हैं, कुछ तेजस्वी सिंहके वध करनेमें भी दक्ष है किन्तु मैं कहता हूँ कि इन बलवानोंमें ऐसे मनुष्य विरले ही है जो कामदेवके दर्प (घमण्ड) को दलने (नष्ट करने) में समर्थ हों।

परिग्रह ही दुःखका कारण है।

अब कहते है कि ससारमे परिग्रह ही दु.खकी जड़ है। इस दुष्टने जहा पदार्पण किया वहीं कलह विसंवाद मचवा दिया देखलो, इसकी बदौलत कोई भी प्राणी ससारमें सुखी नहीं है। एक गुरू और एक चेला थे। वे दोनों सिंहलद्वीप पहुंचे।

वहां गुरूने दो सोनेकी ईंट लीं और चेलाको सुपुर्द कर कहा कि इन्हें सिर पर धर कर ले चल। वह ईंटे कुछ भारी थीं। अतः चेलाने मनमें सोचा 'देखो गुरूजी बड़े चालाक हैं। आप तो स्वय खाली चल रहे हैं और मुझे यह भार लाद दिया है।' दोनों चले जाते हैं। गुरू कहता है 'चेला' चले आओ। बड़ा भय है।' चेला बोलता है-'हां, महाराज चला आता हूं।' आगे मार्गमें एक कुआ मिला। चेलाने उन ईंटोंको उठाकर कुए मे पटक दिया। गुरूने कहा—चेला चले आओ आगे बड़ा भय है।' चेला बोला-'हा,महाराज! परवाह मत करो। अब आगे कुछ भय नहीं है।' तो परिग्रह ही बोझा है। इससे जितना २ ममत्व हटाओगे उतना २ सुख प्रकट होगा। जितना २ अपनाओगे उतना ही दुख मिलेगा।

एक जगह चार लुटेरे थे। वे कहीं से १०००) रु० लूटकर लाए। चोरोंने ढाई ढाई सौ रुपये आपसमे बाट लिए। एकने कहा-अरे, जरा बाजारसे मिठाई तो लाओ, सब मिलकर परस्पर बैठकर खावेंगे। उनमेंसे दो लुटेरे मिठाई लेने चल दिए। इन्होंने आपसमें सोचा यदि जहरके लाड्डू बनवाकर ले चलें तो बड़ा अच्छा हो। वे दोनों खातेही प्राणान्त होंगे और इस तरह वे ५००) रुपये भी अपने हाथ लग जायेंगे। उधर उन्होंने भी यही विचार किया कि यदि वे ५००) रुपये अपने पास आजाए तो बड़ा अच्छा हो उन दोनोंको मारनेके लिए उन्होंने भी

तीर वाण रख लिए। जब वे दोनों लड्डू लेकर आए तो इन्होंने तीर वाणसे उनका काम तमाम किया और जब उन्होंने लड्डू खाए तो वे भी दुनियांसे चल बसे।

अत. संसारमे परिग्रह ही पंच पापोंके उत्पन्न होनेमे निमित्त होता है। जहां परिग्रह है, वहां राग है, और जहा राग है वहीं आत्माके आकुलता है तथा जहा आकुलता है, वहीं दुख है एवं जहा दुख है वहा ही सुख गुणका घात है, और सुख-गुणके घातहीका नाम हिंसा है। संसारमें जितने पाप हैं उनकी जड़ परिग्रह है। परिग्रहके त्यागे बिना अहिंसा तत्त्वका पालन करना असम्भव है। भारतवर्षमें जो यज्ञादिकसे हिंसाका प्रचार होगया था, उसका कारण यही तो है, कि हमको इस यज्ञसे स्वर्ग मिल जावेगा, पानी बरस जावेगा, अन्नादिक उत्पन्न होंगे, देवता प्रसन्न होंगे यह सब क्या था ? परिग्रह ही तो था। यदि परिग्रहकी चाह न होती तो निरपराध जन्तुओंको कौन मारता ? आज यह परिग्रह पिशाच न होता तो हम उच्च है, आप नीच है, यह भेद न होता। यह पिशाच तो यहां तक अपना प्रभाव प्राणियों पर गालिब किए हुए है कि सम्प्रदायवादोंने धर्म तक को निजी मान लिया है। और उस धर्मकी सीमा बाध दी है। तत्त्वदृष्टिसे धर्म तो आत्माकी परिणति विशेषका नाम है, उसे हमारा धर्म है यह कहना क्या न्याय है ? जो धर्म चतुर्गतिके प्राणियोंमे विकसित होता है उसे इने-गिने मनुष्योका मानना क्या

न्याय है ? परिग्रह पिशाचकी ही यह महिमा है जो इस कूपका जल तीन वर्णोंके लिए है, इसमें यदि शूद्रोंके घड़े पड़ गये तब अपेय हो गया ! टट्टीमें होकर नल आजानेसे पेय बना रहता है ! अस्तु, इस परिग्रह पापसे ही संसारके सर्व पाप होते हैं।

एक थका हुआ मनुष्य कुए पर जाकर सो गया। वह स्वप्नमें देखता है कि उसने किसी दुकान पर नौकरी की, वहासे कुछ धन मिला तो एक जायदाद मोल ली। फिर वह देखता है कि उसकी शादी होगई और एक बच्चा भी उत्पन्न होगया। फिर वह देखता है कि बगलमें बच्चा सोया हुआ है और उसके बगलमें स्त्री पड़ी हुई है। अब उसकी स्त्री उससे कहती है कि जरा तनिक सरक जाओ, बच्चेको तकलीफ होती है। वह थोड़ा सरक जाता है। उसकी स्त्री फिर कहती है कि तनिक और सरक जाओ, तनिक और सरक जाओ। अन्ततोगत्वा वह थोड़ा सरकते सरकते धड़ामसे कुएमें गिर पड़ा। जब उसकी नींद खुली तो अपनेको कुएमें पड़ा हुआ पाया। वहां पछताने लगा। उधरसे एक मनुष्य उसी कुए पर पानी भरने आया। इसने नीचेसे आवाज दी भाई ! कुएमें से मुझे निकाल लो। उसने रस्सी डालकर उसको येन केन प्रकारेण कुएमें से बाहर निकाला जब वह निकल आया तो दूसरा मनुष्य, पूछता है 'भाई तुम कौन हो ?' उसने कहा पहिले तुम बतलाओ, तुम कौन हो ? वह बोला 'मैं एक गृहस्थी हूं।' उसने जवाब दिया 'जब एक

मुझ गृहस्थीकी यह दशा हुई तो तू दूसरा कैसे जिन्दा चला आया।'

बन्धका स्वरूप

अब यहा पर बन्धका स्वरूप बतलाते हैं। निश्चयसे इस आत्माके केवल एक राग ही बन्धका कारण है। जैसे तेल मर्दन-युक्त पुरुष अखाड़ेकी भूमिमें रजकर बंधता है,—लिप्त होता है। वैसे ही रागादिककी चिकनाहट जीवको बन्धकी कराने वाली है। अब देखो लोक व्यवहारमे भी हिंसा उसे कहते हैं जिसने पर-जीवका घात किया हो। लेकिन परजीवका घातना यह बन्धका कारण नहीं है। बन्धका केवल अन्तरंगमे उसके मारनेके भाव हैं। आचार्योंने 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इस सूत्रको रच दिया। इसका मतलब यही कि मादके निमित्तसे प्राणोंका वियोग करना हिंसा है। अतः प्रमादसे किसी भी कार्यको करना हिंसा है। तुमने प्रमादके वशसे कोई भी कार्य किया, चाहे। उसमें हिंसा हुई हो अथवा नहीं, लेकिन उसमे हिंसाका दूषण लग गया। अप्रमादमे यदि जीव हिंसा भी होगई तो उसमें हिंसा सम्बन्धी बन्ध नहीं; क्योंकि तुम्हारा काम केवल देखना और प्रमादको विडारना था सो कर लिया। अत सब अन्तरगसे बन्धकी क्रिया होती है। बाह्य वस्तुओंसे कोई बन्ध नहीं होता यदि बाह्य वस्तुओंसे ही बन्ध होता तो समवसरणमे लक्ष्मी सहित जिनदेव विराजमान हैं पर फिर भी उनके बन्ध नहीं,

क्योंकि वहां अन्तरंगमें रागादिक कलुपता नहीं है। और क्या है?

अब जो यह कहना कि मैं पर-जीवको जिलाता तथा मारता हूँ यह अध्यवसान करना भी मिथ्या है। प्रत्येक जीव अपनी आयुसे जीवित रहता है और आयुके निषेक पूरे होनेसे मरण प्राप्त करता है। कोई किसीकी आयुको न देता है,न हरता है। छत्रसालका नाम प्रसिद्ध है। भइया! जब उसके पिताके नगर पर मुगलोंने आक्रमण किया तो उसकी सारी सेना हार गई। कोई चारा न देखकर आप अपनी स्त्रीसमेत भागनेको एक घोड़े पर सवार हुए। स्त्रीके उदरमें था गर्भ। ज्योंही वे भागनेको तैयार हुए उसी समय वह बच्चा पैदा हो गया। अब वे दोनों बहुत असमंजसमें पड़ गए कि अब क्या करना चाहिये। इधर तो बच्चेका जन्म है और उधरसे सेनाका आक्रमण। तो उन्होंने अपने प्राण बचानेके लिए बच्चेको एक तरफ फेंका तो वह मकोड़ोंके झाड़में जा पड़ा। उसके ठीक ऊपर था एक मधु-मक्खी का छत्ता। उसमेंसे एक २ बूंद शहदकी निकले और उस बच्चे के मुखमें जा पड़े। इस तरह सात दिवस व्यतीत हो गए। जब वे दोनों वापिस लौटे और बच्चेको वहा देखा तो हंसता खेलता हुआ पाया। उन्होंने उसे उठा लिया और नगरमें आकर फिर बड़ी खुशियां मनाईं। वही पुत्र वीर छत्रसाल नामसे प्रसिद्ध हुआ, जिसने आगे चलकर मुगलोंके दांत खट्टे किए तो कहनेका

तात्पर्य यही कि जब मनुष्यकी आयु होती है तो उसको प्रायः ऐसे निमित्त मिल जाया करते हैं। और देखो नारदका भी जन्म इसी प्रकार होता है वैराग्य वृत्ति धारण कर वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर लेते है पर फिर उन दोनोंके काम वासना जाग्रत होती है तो वही उपद्रव वहां करते है। दोनोंके संभोगावस्थामे स्त्रीके गर्भ रह जाता है। उसी समय मुनिराज उन्हे सम्बोधन करते हुए कहते हैं 'अरे' तुमने यहां आकर भी ऐसा उपद्रव मचाया। यह तुम लोगोंने क्या किया? जिस दीक्षाको धारण कर आत्मा-कल्याण करना चाहिए था वहां तुमने आत्माको पतित बनाया। यदि ऐसा ही उपद्रव करना था तो घर बार काहेको छोड़ा था? ऐसी वाणीको सुनकर उन्हे तीव्र वैराग्य हो आता है। पुरुष तो पुनः दीक्षा लेकर विहार कर जाता है पर स्त्री बेचारी क्या करे? उसके उदरमे तो गर्भ है। अतः जब बालकका जन्म होता है तो वह स्त्री बच्चेको लेकर कहती है 'बेटा, यदि तेरी आयु है तो तू' यहा वनमे भी अनायास पाला जा सकता है और आयु शेष नहीं है तो मेरा आंचलका दूध पीते हुए भी नहीं जी सकता। इतना कहकर बालकको वहीं पड़ा छोड़ आप भी पुनः दीक्षा लेकर अर्यिका हो जाती है। तब वही बालक आगे चलकर नारद होता है जो देवों द्वारा लाया जाकर ऋषियों द्वारा पाला जाता है तो मनुण्य आयुसे ही जीवित रहता है और आयु न होनेसे मरण प्राप्त करता है।

निश्चयसे केवल अन्तरंगका अध्यवसान ही बन्धका कारण होता है चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ। बाह्य वस्तुओं से बन्ध नहीं होता वह तो अध्यवसानका कारण है। इसीलिए चरणानुयोगकी पद्धतिसे बाह्य वस्तुओंका निषेध किया जाता है, क्योंकि जहा कारण होता है वहीं कार्यकी सिद्धि है। अतः आचार्योंने पराश्रित व्यवहार सभी छुड़ाया है केवल शुद्ध आनंद स्वरूप अपनी आत्माका ही अवलम्ब ग्रहण कराया है। अब देखिए सम्यग्दृष्टिके चारित्रको कुचारित्र नहीं कहा और द्रव्यलिंगी मुनि जो एकादश अंगके पाठी हैं फिर भी उनके चारित्र को कुचारित्र बतला दिया। तो केवल पढनेसे कुछ नहीं होता। जिस पठन-पाठनके फलस्वरूप जहां आत्माको बोधका लाभ होना चाहिए था वह नहीं हुआ तो कुछ भी नहीं किया। हम नित्य पुस्तकोंको खोलते हैं, उस पर सुन्दर सुन्दर पुट्ठे भी चढाते हैं पर अन्तरंगका कुछ भी ख्याल नहीं करते तो क्या होता है?

अतः सब अन्तरंगसे ही बंधकी क्रिया होती है। यदि स्त्री भी त्यागी, घर भी त्यागा और दिगम्बर भी होगए, पर अन्तरंगकी रागद्वेषमयी परिणतिका त्याग नहीं हुआ तो कुछ भी त्याग नहीं किया। सांपने केचुलीका तो त्याग करदिया पर अन्तरंगका जो विष है उसका त्याग नहीं किया तो क्या फायदा? जब तक आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग नहीं होता तब तक किञ्चित् भी त्याग नहीं कहलाता। अब देखिए, कुत्तेको लाठी मारी जाती है

तो वह तो लाठी पकड़ता है, परन्तु सिंहका यह कायदा है कि वह लाठीको न पकड़ मनुष्यको ही पकड़ता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अन्तरंग परिग्रह जो रागादिक है। उन्हे हटानेका यत्न करता है पर मिथ्यात्वी ऊपरी टीपटापमे ही धर्म मान बैठता है। एक प्रातःकालकी लालामी है तो एक सायंकालकी लालामी। प्रातःकाल की लालामी तो उत्तरकालमे प्रकाशकी कारण है और सायकालकी लालामी उत्तर कालमें अन्धकारका कारण है। दोनों हैं लालामी ही। अतः यह सब अन्तरंगके परिणामोका जाति है। सुदर्शन सेठको रानीने कितना फुसलाया पर वह अपने सम्यक् परिणामों पर दृढ बने रहे। तो बाह्यसे कुछ भी क्रिया करो, क्या होता है? हम लोग निमित्तोंको हटाने का प्रयत्न करते हैं अरे, निमित्तोंको हटानेसे होगा क्या? हम आपसे पूछते हैं। किस किस का निमित्त बनाकर हटाओगे? तीनों लोकोंमें निमित्तभरा पड़ा है। तो वह अन्तरंगका निमित्त हटाओ जिसकी वजहसे अन्य निमित्तोंका हटानेका प्रयत्न किया जाता है। तो अन्तरंगमे वह कलुषता हटानेकी आवश्यकता है। उस कलुषतासे ही बंध होता है। तुम चाहे कुछ भी कार्य करो पर अन्तरंगमें जैसे तुम्हारे अध्यवसान है उसीके अनुसार बन्ध होगा। एक मनुष्यने दूसरे को तलवारसे मारा तो तलवारको कोई फांसी नहीं देता। मनुष्य ही फांसी पर लटकता है। तो बाह्य वस्तुओंको त्यागनेकी आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है अन्तरंगके रागादिक त्यागकी सम्यक्त्वी क्रोध भी करता है पर अन्तरंग

से जानता है कि ये मेरे निज स्वभावकी चीज नहीं है। औदयिक परिणाम है मिटनेवाली चीज है। अत त्यागनेका प्रयत्न करता है। यह त्यागको ही सर्वस्व मानता है। पंचम गुणस्थान देशव्रतमे अव्रतका त्याग किया, अप्रमत्तमें प्रमादका त्याग किया और आगे चढ़ा तो सूक्ष्मसांपरायमे लोभका त्याग किया और क्षीणमोहमें मोहका त्याग कर एक निज शुद्ध स्वरूपमें ही रह गया। इससे जैन धमका उपदेश त्याग-प्रधान है। हम लोग बाह्य वस्तुओंका त्याग कर अशान्तिको बढ़ा लेते हैं। अरे, त्यागका यह मतलब थोड़े ही था। त्याग से तो सुख और शान्तिका उद्भव होना चाहिए था सो नहीं हुआ तो त्यागसे क्या लाभ उठाया ? त्यागका अर्थ ही अकुलताका अभाव है। बाह्य त्यागकी वहीं तक मर्यादा है जहा तक वह आत्मपरिणामोंमें निर्मलताका साधक हो। तो आभ्यन्तरपरिग्रहका त्याग परमावश्यक है। पर भइया परिग्रह त्याग बहुत मुश्किल है कोई सामान्य बात नहीं है। और परिग्रह से ही देखो सारे झगड़े हैं। अब तुम्हारे पाकेटमे दाम धरे हुए हैं तो उनके कट जानेका भय है। मुनि नंगे हैं तो उन्हे काहेका भय ? बताओ। तो परिग्रह त्यागमे ही सुख है। तुम परिग्रहको मत त्यागो पर दोष तो उसे जानो, मानो यह तो ससार बेलको बढ़ाने वाला है। भोजन खानेका निषेध नहीं है, परन्तु दोष तो उसे मानो समझो, उसमें मजा नहीं है। भगवानका पूजन भी करो परन्तु यह तो मानो कि साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है। अतः अन्तरंगमे एक केवल शुद्धात्माका ही अनुभव करो।

अब देखो कहते है कि हम तुम एक हैं। मोहकी महिमा तो देखो। हम और तुम अलग कहता ही जा रहा है और एक बतला रहा है कि हम तुम एक हैं। अब तुम देखो मुनिके पास जाओ तो क्या कहेंगे ? यही कि हम सरीखे हो जाओ। और क्या ? घर छोड़ो, बाल बच्चे छोड़ो, और नंग धड़ंग हो जाओ तो भइया क्या करें उनके उसी चालका मोह है। जैनी कहते हैं कि सब संसार जैनी हो जाए। मुसलमान सबको मुसलमान हो जानेको कहते हैं और ईसाई सबको ईसाई बनाना चाहते हैं। तो सब अपनी अपनी ढपली अपना अपना राग अलापते है,- क्योंकि उनके पास उसी चालका मोह है। अतः मोहकी विलक्षण महिमा है। मुनि तो चाहते हैं कि सब संसार मुनि होजाए पर होय कैसे ? संसारका चक्र ही ऐसा चला आया है।

कोई कहे कि हमारी आत्मा तो भोजन करती ही नहीं इसलिए हम भोजन क्यों करे ? मत करो। कौन कहता है कि तुम भोजन करो। पर दो ही दिन बाद क्षुधाकी वेदना सताने लगेगी। क्यों ? मोह की सत्ता जो विद्यमान है। उसके होते हुए भोजन कैसे नहीं करोगे ? मोह जिनके नष्ट होगया है उनको कोई क्षुधाकी वेदना नहीं है। औदारिकशरीर होते हुए भी उसकी वेदना उनको नहीं सताती। अतः मोहमें ही क्षुधा लगती है। तो कार्य धीरे धीरे ही होता है। वृक्ष भी देखो समय पर ही

फूलता फलता है। एक मनुष्य था। वह मार्गमें चला जा रहा था। उसने एक बुढ़ियाको जाड़ेमें ठिठुरते हुए देखा। उस पर उसे दया आगई और अपना कम्बल उसे दे दिया। पर जाड़ा बहुत पड़ रहा था। उसे ठंड सहन नहीं हुई तो आप किसी मकानमें घुस गया और वहाँ छप्पड़ खींचने लग गया। 'कौन है' मकान वालेने पूछा। वह बोला, मैं हू धर्मात्माका दादा। वह तुरन्त आया और उससे छप्पर खींचनेका कारण पूछा। उसने कहा—मेरे पास एक कम्बल था सो मार्गमे मैंने एक बुढ़ियाको दे दिया। पर मुझे ठड बहुत लग रही थी तो मैं यहा चला आया। मकान वालेन कहा—अरे, जब तुझ पर ठड सहन नहीं हुई तो अपना कम्बल उस बुढ़ियाको ही क्यों दिया? वह चुप रहा और धीरेसे निकलकर अपना मार्ग जा नापा। तो तात्पर्य यही कि अपनी जितनी शक्ति हो उसीके अनुसार कार्य करना चाहिए। मान बड़ाईमे आकर शक्तिसे परे आचरण करना तो उल्टी अपनी पूंजी खोना है।

वास्तवमें यदि विचार किया जाय तो कल्याण करनेमें कुछ नहीं है। केवल उस तरफ हमारा लक्ष्य नहीं है। जब नकुल शूकर और वानर आदि तिर्यचोंने अपना कल्याण कर लिया तो हम तो मनुष्य है, सज्ञी पचेन्द्रिय हैं। क्या हम अपना कल्याण नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं।

मनुष्य यदि चाहे तो देवोंसे भी बड़ा बन सकता है। अभी त्याग मार्गको अपना ले तो आज वह देवोंसे बड़ा बन

जाय। तो मनुष्य वास्तवमें क्या नहीं कर सकता ? वह तप, यम, संयम सब कुछ पाल सकता है जो देवोंको परम दुर्लभ हैं वे देव यदि तप करना चाहे अथवा संयम पालना चाहे तो नहीं पाल सकते। ऊपरसे हजारों वर्ष तक नहीं खावें पर अन्तरंगमें तो उनकी चाह खानेकी नहीं मिटती। तो मनुष्य पर्याय क्यों उत्तम बतलाई कि उसमें बाह्याभ्यंतर त्याग करनेकी शक्ति है। अरे देव ज्यादासे ज्यादा नंदीश्वर द्वीप चले गए, पंच कल्याणक के उत्सव देख लिए और क्या है ? चौथे गुणस्थानसे तो आगे नहीं बढ़ सकते। पर मनुष्य यदि चाहे तो चौदह गुणस्थान पार करसकता है यहां तक कि वह सर्वार्थ-सिद्धिके देवोंद्वारा पूज-नीक हो सकता है। और तुम चाहो जो कुछ बन जाओ। चाहे पाप करके नरक चले जाओ। चाहे पुण्योपार्जन करके स्वर्गमें, और पाप-पुण्यको नाश कर चाहे मोक्ष चले जाओ। २५ गत्यागति हैं, चाहे किसीमें भी चले जाओ। यह तुम्हारे हाथ की बात है।

अब माघनंदि आचार्यको ही देखो। दूसरे आचार्यने शिष्यसे कहा जाओ; उस माघनंदि आचार्यके पास, वही प्रश्नका उत्तर देंगे। तो क्या उनको उस प्रश्नका उत्तर नहीं आता था। पर क्या करें ? उनको किसी तरह जो अपना पद बतलाना था। अतः अपने पदको पहिचानो। यही एक अद्वैत है। उसीका केवल अनुभव करो। और देखो, यदि अनुभवमें आवे तो उसे मानो नातर जबर्दस्ती नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्यने यही कहा कि

अनुभवमें आवे तो मानो नहीं तो मत मानो। जबर्दस्तीका मानना माननेमे मानना नहीं हुआ करता। कोई कहे आत्मा तो अमूर्तिक है, वह दिखती ही नहीं तो उसे देखनेकी क्या चेष्टा करे ? तो कहते हैं कि वह दिखनेकी चीज ही नहीं है, अनुभव-गोचर है। अब लोकमें भी देखो जिसको वातरोग होजाता है उसका दुख वही जानता है। बाह्यमें वह रोग प्रकट नहीं दिखता पर जिसके दर्द है उसे ही अनुभव होता है। तो ऐसी बात नहीं। वह तो एक अनुभवकी चीज है। आचार्योंने स्पष्ट लिख दिया—

मोक्षमार्गस्य नेत्तार भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञात्तार विश्वतत्त्वानां वदे तद्गुणलब्धये

यह देव का स्वरूप है। निरारंभी गुरू है। दयामयी धर्म है। अथवा वस्तु स्वभाव है उसका वही धर्म है। यदि यह अनुभव में आवे तो मानो नातर मत मानो। अतः जैसे आत्मा अनुभव में आवे वही उपाय श्रेयस्कर है।

अब कहते हैं कि सब द्रव्योंके परिणाम जुदे जुदे हैं। अपने अपने परिणामोंके सब कर्ता हैं। जीव अपने परिणामोंका कर्ता है और अजीव अपने परिणामोंका यह निश्चय नयका सिद्धान्त है। पर मनुष्यको जब तक भेद-ज्ञान प्रकट नहीं होता तब तक वह अपनेको परद्रव्योंका कर्ता अनुभव करता है। लेकिन पर-द्रव्योंका कर्ता त्रिकालमें नहीं होता। जैसे तन्तुवायने यों ताना बाना करके वस्त्र तैयार किया, पर तन्तुवायका क्या एक अंश भी

वस्त्रमें गया? वस्त्रका परिणमन वस्त्रमें हुआ और तन्तुवाय का परिणमन तन्तुवाय में। पर तन्तुवाय ने वस्त्र बनाया ऐसा सब कोई व्यवहारसे कहता है पर निश्चयसे ऐसा नहीं है। वस्त्रकी क्रिया वस्त्रमें ही हुई है। अतः वह वस्त्रका कर्ता नहीं है। ज्ञानी केवल अपने ज्ञानका कर्ता है। वह दूसरे ज्ञेयोंको जानता है। यदि पूर्वोपार्जित कर्मका उदय भी आता है तो उस कर्मफल को वह जानता ही है अतः समतासे भोग लेता है।

हम परद्रव्योंको अपनी मान लेते हैं तभी दुखी होते हैं। कोई इष्ट वस्तुका वियोग हुआ तो दुखी होकर चिल्लाने लगे। क्यों? उसे अपनी मान लिया। कोई अनिष्ट वस्तुका संयोग होगया तो आर्तध्यान करने लगे। यह सब पराई वस्तुको अपना माननेका कारण है। तो आपा मानना मिथ्या है। यदि पुत्र उत्पन्न हुआ समझो हमारा नहीं है, स्त्रीभी घरमें आई तो समझो पराई है। ऐसा समझने पर उनका वियोग भी हो जायगा तो तुम्हें दुख नहीं होगा। अब देखो, मुनि जब विरक्त हो जाते हैं तो स्त्रीसे ममत्व बुद्धि ही तो हटा लेते हैं। और जब वह स्त्री मुनिको पड़गाह लेती है तो क्या आहार नहीं लेते? और उनके हाथमें भोजन भी रखती है तो क्या आंख मीच लेते हैं? नहीं। उसे देखते हैं, आहारको भी शोधकर खाते हैं पर उससे मूर्छा हटा लेते हैं दुनियां भरके कार्य करो कौन निषेध करता है? पुत्रको पालो, कुटुम्बको खिलाओ पर अपनेसे जुदा समझो। इसी तरह

पुद्गलको खिलाओ पिलाओ पर समझो हमारा नहीं है। यदि इसे खिलाओगे नहीं तो बताओ काम कैसे देगा? अरे, हाड मांस चाम बने रहो इससे हमारा क्या बिगडता है? बन रहो, पर इसे खिलाओ नहीं यह कहां का न्याय है? इसे खिलाओ पिलाओ पर इससे काम भी पूरा लो। नौकरको मत खिलाओ तो देखे कैसे काम करेगा? मुनि क्या शरीरको खिलाते नहीं हैं? इसे खिलाते तो है पर उससे पूरा २ काम भी लेते हैं। पुद्गलको खिलाओ पिलाओ पर उसे अपना मत मानो। माननेमे ही केवल दोष है। रस्सी को सर्प मान लिया तो गिर रहे हैं, पड रहे हैं, चोट भी खा रहे है। तो यह क्यों? केवल ज्ञानसे ही तो रस्सीकी कल्पना करली। और रस्सी कभी सर्प होती नहीं इसी तरह पुद्गल कभी आत्मा होता नहीं। पर अज्ञानसे मान लेते हैं। बस केवल यही भूल है। इस भूलको मिटाकर भेद-ज्ञान करो। समझो आत्मा और पुद्गल जुदा द्रव्य है। तो भइया इस तरफ हमारा लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य करे तो ससार क्या है?

एक लकडहारा था। वह रोज एक मन लकडीका गट्ठा लाता और बाजारमें बेच देता। एक दिन उसने पंडितजीसे व्याख्यान सुना। उसमें उन्होंने कहा कि यह पुद्गल जुदा और आत्मा जुदा है—यह सम्यग्दर्शन है। और फिर पंच पापोंका स्वरूप बतलाया। उसने सोचा मैं हिंसा तो करता ही नहीं हूं। और यह एक मन लकडीका गट्ठा लाता हू तो इसे आठ आनेमे

बेच लिया करूंगा। मेरा यही एक भाव होगा। इस तरह झूठ भी नहीं बोलूंगा। मैं किसीकी चोरी तो करता ही नहीं हूं अतः चोरीका भी सहजमें त्याग हो जायगा। मेरे एक अकेली स्त्री है, इसलिए पर स्त्रीका भी त्याग कर दूंगा। और पांचवां परिग्रह प्रमाण है। तो मुझे लकड़ी बेचनेमें आठ आने मिलेंगे ही। उसमें तीन आने तो खानेमें खर्च लूंगा, दो आने बचाऊंगा, एक आना दान करूंगा और दो आने कपड़े आदिमें खर्च करूंगा। इस तरह परिग्रह प्रमाण भी कर लूंगा। ऐसा सोच कर उसने उसी समय पंच पापोंका त्याग कर दिया। अब रोज-मर्रा वह लकड़ी लाता और बाजारमें बेचनेको रखदेता। उसके पास ग्राहक आते और पूछते 'क्या लकड़ी बेचेगा ?' वह बोलता 'बेचनेके लिए ही तो लाया हूँ।' ग्राहक कहते 'क्या दाम लेगा' ? वह बोलता 'आठ आने'। वे कहते कुछ कम करेगा वह कहता 'नहीं, महाराज। मेरी एक मन लकड़ियां हैं, इसे तौलकर देखलो यदि ज्यादा होय तो दाम देना, नहीं मत देना'। जब उन्होंने तोलकर देखा तो ठीक एक मन निकली। उसे उन्होंने आठ आने देदिए। इस तरह रोज उसकी लकड़ी बिक जाया करती। एक दिन जब वह लकड़ी ले जारहा था तो रास्तेमें एक नौकरने आवाज दी 'अरे, क्या लकड़ी बेचेगा ?' उसने कहा 'हां' 'क्या दाम लेगा' नौकरने पूछा। उसने कहा 'आठ आने'। 'सात आने लेगा' नौकर बोला। उसने कहा 'नहीं' फिर उसने

बुलाया और कहा 'अच्छा, साढ़ेसात आने लेगा'। वह बोला 'अरे, तू किस बेवकूफका नौकर है। एक बार कह दिया नहीं लूंगा। ऊपरसे उसका सेठ सुन रहा था। वह एक दम गरम होके नीचे आया और बोला 'अबे, क्या बकता है?' उसने कहा 'ठीक कहता हूं।' यदि तुम सत्य बोलते तो क्या तुम्हारा असर इस नौकर पर नहीं पड़ता। सेठ और भी क्रोधित हुआ। उसने फिर कहा 'यदि तुम क्रोधित होओगे तो मैं तुम्हारी पोल खोल दूंगा। तुम महा बदमाश पर-स्त्री-लपटी हो। इतने दिनों तक शास्त्र श्रवण किया पर कुछ भी असर नहीं हुआ। मैंने एक बार ही सुनकर पंच-पापोंका त्याग कर दिया। सेठ उसके ऐसे वचनों सुनकर एक दम सहम गया। गर्ज यह है कि उसने भी उस समय पंच पापोंका त्याग कर दिया। तो देखो, उस पर वक्ताका असर नहीं पड़ा और उस लकड़हारे का उपदेश लग गया। तो हम सुमार्ग पर चलते हैं तब दूसरों पर असर पड़ता है। हम रोते हैं कि हमारे बच्चे कहना नहीं मानते। अरे, माने कैसे? तुम तो सुमार्ग पर चलते नहीं हो वे कैसे तुम्हारा कहना मानें। बताओ। तुम तो स्वयं शुद्ध भोजन करते नहीं फिर कहते हो कि बीमार पड गए। ये जितनी भी बीमारियां होती है सब अशुद्ध भोजन खानेसे होती हैं। तुम तो बाजार से चाट उड़ाओ और घर आकर अपनी स्त्रीसे कहो कि बाजारका मत खाओ। और कदाचित् खा भी ले तो फिर कहते हो हमारी स्त्री बीबी

बन गई। अरे बीबी नहीं, वह तो बाबा हो जायगी। आप स्वय शुद्ध भोजन करनेका नियम तो लो, वह दूसरे दिन स्वयं शुद्ध बनाने लगेगी। यदि तुम्हे फिर भी शुद्ध भोजन न मिले तो चक्की लेकर बैठ जाओ। दूसरे दिन वह स्वयं अपने आप पीसना शुरू कर देगी। तुम तो पर-स्त्री-लंपटी बनो और स्त्रीको ब्रह्मचर्यका उपदेश करो। आप तो रावण बनो और स्त्रीसे सती सीता बननेकी आशा करो। कैसा अन्याय है? ध्यान दो-यदि स्त्रीको सीता रूपमे देखना चाहते हो तो तुम स्वयं राम बनो, राम जैसे काय करो। तभी तुम्हारी कामनाएं सफल होंगी।

तुम कहते हो कि जितने भी त्यागी आते हैं वह यही उपदेश करते हैं कि यह त्यागो, वह त्यागो। तो वह तो तुम्हारे हितका ही उपदेश करते है। अरे, तुम पर वस्तुओंको अपना माने हुए हो तभी तो वह त्यागनेका उपदेश करते है। और चोरटापन क्या है? पराई वस्तुको अपनी मानना यही तो चोरटापन है। तो वह तुम्हारा यह चोरटापन छुड़वाना चाहते है और वह तुम्हें बुरा लगता है। हा, यदि तुम्हारे निजकी चीज छुड़वाए तो तुम कह सकते हो। ज्ञान दर्शन तुम्हारी चीज है। उसे अपनाओ। लेकिन परद्रव्योको क्यों अपनाते हो? यह कहांका न्याय है? अतः वह तुम्हारे हितका ही उपदेश करते हैं।

इस जीवके अनादिसे चार संज्ञाएं लग रही है। अब बताओ आहार करना कौन सिखलाता है? इसी तरह पुद्गलमे

भी इसकी आत्मीय बुद्धि लग रही है। अब देखो यह लाल कपड़ा हम पहिने हुए है। तो इस लाल कपड़ेको पहिननेसे क्या यह शरीर लाल हो जाता है ? यह कपड़ा इतना लम्बा चौड़ा है, इतना मोटा पतला है तो क्या यह शरीर इतना लम्बा चौड़ा दुबला पतला होजाता है ? इसी तरह यह शरीर कभी आत्मा होता नहीं। इस शरीरसे जो पूरण गलन स्वभाव है वह कभी आत्माका नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि जो पुद्गलकी क्रिया है वह त्रिकालमे आत्माको क्रिया नहीं है। अपनी वस्तुको अपना मानना ही बुद्धिमानोंका कार्य है।

तो भइया यह कोई बड़ी बात नहीं है। उस तरफ केवल हमारा लक्ष्य ही नहीं है। पर कमसे कम इतना तो जरूर होजावे कि इस पुद्गलसे यह अभिप्राय हटा ले कि 'इदम् मम' यह मेरा है। श्रद्धामें यह तो बिलकुल जम जावे। हम तो कहते हैं कि चारित्रको पालो या मत पालो कोई हर्ज नहीं। गृहस्थीके त्यागकी भी आवश्यकता नहीं। पर यह श्रद्धान तो दृढ़ होजाना चाहिए। अरे, चारित्र तो कालान्तर पाकर हो ही जायगा। जब यह जान लिया कि यह मेरी चीज नहीं है तो उसे छोड़नेमें कोई बड़ी भारी बात नहीं। अब तीर्थंकरोंको ही देखिए। जब तक आयु पुर्ण न होय तब देखें मोक्ष कैसे चले जॉय। तो श्रद्धानसे यह निश्चय बैठ जाना कि न मैं पुद्गलका हूँ और न पुद्गल मेरा है। इसके

बिना करोडों जप तप करो कुछ फलदायी नहीं। अतः श्रद्धामें अमोघ शक्ति है।

त्यागका वास्तविक रूप

आज आकिञ्चन्य धर्म है पर दो द्वादशी हो जानेसे आज भी त्याग धर्म माना जायगा। त्यागका स्वरूप कल आप लोगोंने अच्छी तरह सुना था। अब उसके अनुसार कुछ काम करके दिखलाना है।

मूर्च्छाका त्याग करना त्याग कहलाता है। जो चीज आपकी नहीं है, उसे आप क्या छोड़ेगे ? वह तो छूटी ही है। रुपया, पैसा धन दौलत सब आपसे जुदे है। इनका त्याग तो है ही। आप इनमें मूर्च्छा छोड़ दो, लोभ छोड़ दो, क्योंकि मूर्च्छा और लोभ तो आपका है—आपकी आत्माका विभाव है। धनका त्याग लोभ कषायके अभावमें होता है। लोभका अभाव होनेसे आत्मामें निर्मलता आती है। यदि कोई लोभका त्यागकर मान करने लग जाय- दान करके अहङ्कार करने लग जाय तो वह मान कषायका दादा हो गया। 'चूल्हेसे निकले भाड़में गिरे' जैसी कहावत होगई। सो यदि एक कषायसे बचते हो तो उससे प्रबल दूसरी कषाय मत करो।

देखे, आप लोगोमें से कोई त्याग करता है या नहीं। मैं तो आठ दिनसे परिचय कर रहा हू। आज तुम भी करलो। इतना काम तुम्हीं करलो।

एक आदमीसे एकने पूछा-आप रामायण जानते हो तो बताओ उत्तरकांड में क्या है ? उसने कहा-अरे, उत्तर—काडमे क्या धरा ? कुछ ज्ञान ध्यानकी बाते हैं। अच्छा, अरण्य काडमे क्या है ? उसमें क्या धरा ? अरण्य वनको कहते हैं, उसीकी कुछ बातें हैं। लङ्काकाडमे क्या है ? अरे, लङ्काको कौन नहीं जानता ? वही तो लङ्का है जिसमे रावण रहा करता था। भैया ! अयोध्याकांडमे क्या है ? बड़ी बात पूछी उसमे क्या है ? वही तो अयोध्या है जिसमे रामचन्द्रजी पैदा हुए थे। अच्छा, बाल-कांडमे क्या है ? खूब रही, इतने काण्ड हमने बताए, एक काण्ड तुम्हीं बतला दो। सभी काण्ड हम ही से पूछना चाहते हो। इसी प्रकार हमारा भी कहना है कि इतने धर्म तो हमने बतला दिए। अब एक त्यागधर्म तुम्हीं बतलादो। और हमसे जो कुछ कहो सो हम त्याग करनेको तैयार हैं-कहो तो चले जायें। (हंसी)। आपके त्यागसे हमारा लाभ नहीं-आपका लाभ है। आपकी समाजका लाभ है, आपके राष्ट्रका लाभ है। हमारा क्या है ? हमे तो दिनमे दो रोटियाँ चाहिए, सो आप न दोगे, दूसरे गांववाले दे देंगे। आप लुटिया न उठाओगे तो (क्षुल्लकजीके हाथसे पीछी हाथमें लेकर) यह पीछी और कमण्डलु उठाकर स्वयं बिना बुलाए आपके यहा पहुंच जाऊंगा।

पर अपना सोचलो, आज परिग्रह के कारण सबकी आत्मा हाथका इशारा कर यों काप रही है। रात दिन चिन्तित है—कोई न ले

जाय। कपनेमे क्या धरा ? रक्षाके लिये तैयार रहो। शक्ति सञ्चित करो। दूसरेका मुंह क्या ताकते हो ? या अटूट श्रद्धान रक्खो जिस कालमे जो बात जैसी होने वाली है वह उस कालमें वैसी होकर रहेगी।

यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः॥

यह नीति बच्चोंको हितोपदेशमे पढ़ाई जाती है। जो काम होने वाला नहीं वह नहीं होगा और जो होने वाला है वह अन्यथा प्रकार नहीं होगा। महादेवजी तो दुनियांके स्वामी थे पर उन्हे एक वस्त्र भी नहीं मिला। और हरि (कृष्ण) संसारके रक्षक थे उन्हे सोनेके लिए मखमल आदि कुछ नहीं मिला क्या मिला ? सर्प।

"जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहु नहिं होसी काहे होत अधीरा रे॥"

होगा तो वही जो वीतरागने देखा है, जो बात अनहोनी है वह कभी नहीं होगी।

दिल्लीकी बात है। यहां ला० हरजसराय (?) रहते थे। करोड़पति आदमी थे। बड़े धर्मात्मा थे। जिन-पूजनका नियम था। जब संवत् १४ (?) की गदर पड़ी तब सब लोग इधर उधर भाग गये। इनके लड़कोने कहा–पिताजी ! समय खराब है, इसलिए स्थान छोड़ देना चाहिए। हरजसरायने कहा–तुम लोग

जाओ, मैं वृद्ध आदमी हू। मुझे धनकी आवश्यकता नहीं। हमारे जिनेन्द्र की पूजा कौन करेगा ? यदि आदमी रखा जायगा तो वह भी इस विपत्तिके समय यहाँ स्थिर रह सकेगा, यह सम्भव नहीं। पिताके आग्रहसे लड़के चले गये। एक घण्टे बाद चोर आये। हरजसरायने स्वय अपने हाथों सब तिजोरिया खोल दीं चोरोंने सब सामान इकट्ठा किया। लेजानेको तैयार हुए, इतनेमें एकाएक उनके मनमे विचार आया कि कितना भला आदमी है ? इसने एक शब्द भी नहीं कहा। लूटनेके लिए सारी दिल्ली पड़ी है ? कौन यही एक है, इस धर्मात्माको सताना अच्छा नहीं। हरजसरायने बहुत कहा, चोर एक कणिका भी नहीं ले गये। और दूसरे चोर आकर इसे तङ्ग न करे, इस ख्यालसे उसके दरवाजे पर ५ डाकुओंका पहरा बैठा गये। मेरा तो अब भी विश्वास है कि जो इतना दृढ़ श्रद्धानी होगा उसका कोई बाल बाका कहीं कर सकता। "बाल न बाका कर सके जो जग ही रिपु होय" जिसके धर्म पर अटल विश्वास है सारा संसार उसके विरुद्ध होजाये तो भी उसका बाल बाका नहीं हो सकता। तुम ऐसा विश्वास करो. तुम्हारा कोई कुछ भी बिगाड़ ले तो मैं जिम्मेदार हूँ, लिखालो मुझसे।

मैं श्रद्धाकी बात कहता हूँ। बरूआसागरमे मूलचन्द था बड़ा श्रद्धानी था। उसके पाच विवाह हुए थे। पाचवीं स्त्री के पेटमे गर्भ था। कुछ लोग बैठे थे, मूलचन्द्र था। किसीने कहा

के मूलचन्द्रके बच्चा होगा, किसीने कहा बच्ची होगी इस प्रकार सभीने कुछ न कुछ कहा। मूलचन्द्र मुझसे बोला—आप भी कुछ कह दो। मैंने कहा भैया! मै निमित्तज्ञानी तो हूँ नहीं जो कह दूं कि यह होगा। वह बोला—जैसी एक एक गप्प इन लोगोंने छोड़ी वैसी आप भी छोड़ दीजिए। मुझे कह आया कि बच्चा होगा और उसका श्रेयांसकुमार नाम होगा। समय आने पर उसके बच्चा हुआ। उसने तार देकर बाईजीको तथा मुझे बुलाया। हम लोग पहुच गये। बड़ा खुश हुआ। उसने खुशीमे बहुत सारा गल्ला गरीबोंको बॉटा और बहुतोंका कर्ज छोड़ दिया। नाम-संस्करणके दिन एक थाली मे सौ दो-सौ नाम लिखकर रक्खे और एक पांच वर्षकी लड़कीसे उनमेसे एक २ कागज निकलवाया। सो उसमे श्रेयासकुमार नाम निकल आया। मैंने तो गप्प ही छोड़ी थी पर वह सच ही निकल आई। एक बार श्रेयासकुमार बीमार पडा तो गांवके कुछ लोगोने मूलचन्द्रसे कहा कि एक सोने का राक्षस बनाकर कुएको चढ़ा दो। मूलचन्द्र ने बड़ी दृढताके साथ उत्तर दिया कि यह लड़का मर जाय, मूलचन्द्र मर जाय, उसकी स्त्री मर जाय, सब मर जाय, पर मैं राक्षस बनाकर नहीं चढा सकता। श्रेयासकुमार उसके पाच विवाह बाद उत्पन्न एक ही लड़का था। फिर भी अपना श्रद्धान तो यही कहता है। जो मौका आने पर विचलित हो जाते है उनके श्रद्धान मे क्या धरा है?

यह पञ्चाध्यायी ग्रंथ है। इसमे लिखा है कि सम्यग्दृष्टि नि:शङ्क होता है—निर्भय होता है। मै आपसे पूछता हू कि उसे

भय है ही किस बातका ? 'वह अपने आपको जब अजर अमर, अविनाशी पर-पदार्थोंसे भिन्न श्रद्धान करता है' उसे जब इस बातका विश्वास है कि परपदार्थ मेरा नहीं है, मैं अनाद्यनन्त नित्योद्योत विशद ज्ञान ज्योति स्वरूप हूँ। मैं एक हू। परपदार्थ से मेरा क्या सम्बन्ध ? अणुमात्रभी पर द्रव्य मेरा नहीं है। हमारे ज्ञानमे ज्ञेय आता है पर वह भी मुझसे भिन्न हैं। मैं रसको जानता हूँ पर रस मेरा नहीं हो जाता। मै नव पदार्थोंको जानता हूँ पर नव पदार्थ मेरे नहीं हो जाते। भगवान कुन्द कुन्द-स्वामी ने लिखा है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दसण णाणमइयो सदाऽरूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्ण परमाणु मित्तं पि॥

मैं एक हूँ, शुद्ध हूं दर्शन, ज्ञानमय हूँ, अरूपी हूँ। अधिककी बात जाने दो परमाणुमात्र भी परद्रव्य मेरा नहीं है।

पर बात यह है कि हम लोगोंने तिलीका तेल खाया है, घी नहीं। इसलिये उसे ही सब कुछ समझ रहे हैं। कहा है.—

तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि।
अविदितपरमानन्दो जनो वदति विषय एव रमणीयः॥

जिसने वास्तविक सुखका अनुभव नहीं किया वह विषय सुखको ही रमणीय कहता है। इस जीवकी हालत उस मनुष्य के समान हो रही है जो सुवर्ण रखे तो अपनी मुट्ठीमे है पर खोजता फिरता है अन्यत्र। अन्यत्र कहां धरा है? आत्माकी चीज आत्मामेही मिल सकती है।

एक भद्र प्राणी था। उसे धर्मकी इच्छा हुई। मुनिराजके पास पहुँचा, मुझे धर्म चाहिए। मुनिराजने कहा-भैया ? मुझे और बहुत सा काम करना है। अतः अवसर नहीं। इस पास की नदी में चले जाओ उसमे एक नाकू रहता है। मैंने उसे अभी अभी धर्म दिया है वह तुम्हें दे देगा। भद्रप्राणी नाकूके पास जाकर कहता है कि मुनिराजने धर्मके अर्थ मुझे आपके पास भेजा है धर्म दीजिए। नाकू बोला, अभी लो एक मिनिटमें लो, पर पहिले एक काम मेरा करदो। मै बड़ा प्यासा हूँ. यह सामने किनारे पर एक कुआ है उससे लोटा भर पानी लाकर मुझे पिलादो, फिर मैं आपको धर्म देता हूँ। भद्रप्राणी कहता है तू बड़ा मूर्ख म'लूम होता है, चौबीस घण्टे तो पानी मे बैठा है और कहता है कि मैं प्यासा हूँ। नाकूने कहा कि भद्र! जरा अपनी ओर भी देखो। तुम भी चौबीसों घण्टे धर्ममें बैठे हो इधर उधर धर्मकी खोज मे क्यों फिर रहे हो ? धर्म तो तुम्हारी आत्माका स्वभाव है, अन्यत्र कहाँ मिलेगा ?

सम्यग्दृष्टि सोचता है जिस कालमें जो बात होने वाली होती है उसे कौन टाल सकता है ? भगवान् आदिनाथ को ६ माह आहार नहीं मिला। पाण्डवोंको अन्त मुहूर्तमे केवलज्ञान होने वाला था, ज्ञान कल्याणक का उत्सव करने के लिए देवलोग आने वाले थे। पर इधर उन्हें तप्त लोहेके जिरहबख्तर पहिनाये जाते हैं। देव कुछ समय पहिले और आ जाते ? आ कैसे जाते

होना तो वही था जो हुआ था। यही सोच कर सम्यग्दृष्टि न इस लोकसे डरता है, न पर लोकसे। न उसे इस बातका भय होता है कि मेरी रक्षा करने वाले गढ, कोट आदि कुछ भी नहीं हैं। मैं कैसे रहूगा ? न उसे आकस्मिक भय होता है और सबसे बडा मरणका भय होता है सो सम्यग्दृष्टिको वह भी नहीं होता। वह अपनेको सदा अनाद्यनन्त नित्योद्योत विशद ज्ञानज्योति स्वरूप, मानता है। सम्यग्दृष्टि जीव संसारसे उदासीन होकर रहता है। तुलसीदासने एक दोहे में कहा है—

'जग तै रहु छत्तीस हो रामचरण छह तीन।'

संसारसे छत्तीस ३६ के समान विमुख रहो और रामचन्द्रजीके चरणों मे ६३ के समान सम्मुख।

वास्तवमे वस्तुतत्त्व यही है कि सम्यग्दृष्टिकी आत्मा बडी पवित्र हो जाती है, उसका श्रद्धान गुण बडा प्रबल होजाता है। यदि श्रद्धान न होता तो आपके गॉवमें जो ८८ उपवास वाला बैठा है वह कहांसे आता ? इस लडकीके (काशीबाईकी ओर सकेत करके) आज आठवा उपवास है। तथा कहीं बैठा होगा। उसके बारहवां उपवास है और एक एक, दो दो उपवास-वालोंकी तो गिनती ही क्या है ? 'अलमा कौन पियादों में' ? वे तो सौ दो-सौ होंगे। यदि धर्मका श्रद्धान न होता तो इतना क्लेश फोकटमे कौन सहता ?

व्याख्यानकी बात थी सो तो हो चुकी। अब आपके नगरके एक बड़े आदमीका कुछ आग्रह है सो प्रकट करता हूँ। भैया! मै तो ग्रामोफोन हूँ, चाहे जो बजा लेता है—जो मुझे जैसी कहता है वैसी ही कह देता हूँ। इन बडे आदमियोंकी इतनी बात माननी पड़ती है; क्योंकि उनका पुण्यही ऐसा है। अभी यहां बैठनेको जगह नहीं है पर सेठ हुकमचन्द्र आ जांय तो सब कहने लगेंगे, इधर आओ, इधर आओ। अरे, हमारी तुम्हारी बात जाने दो, तीर्थङ्करोंकी दिव्यध्वनि तो समय पर ही खिरती है पर यदि चक्रवर्ती पहुँच जाय तो असमयमे भी खिरने लगती है। अपने रागद्वेष है पर उनके तो नहीं है। चक्रवर्तीकी पुण्यकी प्रबलतासे भगवानकी दिव्यध्वनि अपने आप खिरने लगती है। हॉ, तो यह सिंघईजी कह रहे है कि महिलाश्रमके लिए अभी कुछ हो जाय तो अच्छा है फिर मुश्किल होगा। भैया ? मैं विद्यालयको तो मांगता नहीं और उस वक्त भी नहीं मागे थे, पर बिना मांगे ही सेठ २५०००) दे गया तो मै क्या करूं मैं तो बाहरकी संस्थाओ को देता था, पर मुझे कह आया कि यदि सागर इतने ही और देवे तो सब वही ले ले। आप लोगोंने बहुत मिला दिए। कुछ बाकी रह गए सो आप लोग अपना वचन न निभाओगे तो किसीसे भीख मांग दूंगा। यह बात महिलाश्रमकी है जैसे बच्चे तैसे बच्चियां। आपकी तो हैं। इनकी रक्षामें यदि आपका द्रव्य लगता है तो मैं समझता

आते हैं। सर्वसे तात्पर्य चोरी, मिथ्या, अब्रह्म और परिग्रहसे है क्रोध, मान, माया, लोभ ये सर्व आत्मगुणके घातक हैं अतः ये सर्व पाप ही है। इन्हीं कषायोंके द्वारा आत्मा पापोंमें प्रवृत्ति करता है तथा जिनको लोकमें पुण्य कहते है वह भी कषायों के सद्भावमें होते है। कषाय आत्माके गुणोंके घातक है अतः जहां भी आत्माके चारित्रगुणका घात है और इसलिये वहां भी हिंसा ही है। अतः जहां पर आत्माकी परिणति कषायोंसे मलीन नहीं होती वहीं पर आत्माका अहिंसा-परिणाम विकास रूप होता है. उसीका नाम यथाख्यातचारित्र है.। जहां पर रागादिक परिणामोंका अंश भी नहीं रहता उसी तत्त्वको आचार्योंने अहिंसा कहा है—

'अहिंसा परमो धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः' श्रीअमृतचन्द्र स्वामीने उसका लक्षण यों कहा है:—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

'निश्चय कर जहा पर रागादिक परिणामोंकी उत्पत्ति नहीं होती वहीं अहिंसाकी उत्पत्ति है और जहां रागादिक परिणामोंकी उत्पत्ति होती है वहीं पर हिंसा होती है। ऐसा जिनागमका सन्क्षेपसे कथन जानना'। यहां पर रागादिकोंसे तात्पर्य्य आत्माकी परिणति विशेष से है-परपदार्थमें प्रीतिरूप परिणामका होना राग तथा अप्रीतिरूप परिणामका नाम द्वेष, और तत्त्वकी अप्रतीति रूप परिणामका होना मोह अर्थात् राग, द्वेष मोह ये तीन आत्माके विकार भाव है। ये जहां पर होते है वहीं आत्मा कलिल (पाप) का संचय करता है, दुखी होता है, नाना प्रकार पापादि कार्योंमें प्रवृत्ति करता है। कभी मन्द राग हुआ तब परोपकारादि-

कार्योंमें व्यग्र रहता है, तीव्र रागद्वेष हुआ तब विषयोंमें प्रवृत्ति करता या हिंसादि पापोंमें मग्न हो जाता है। कहीं भी इसे शांति नहीं मिलती। यह सर्व अनुभूत विषय है। और जब रागादि परिणाम नहीं होते तब शांतिसे अपना जो ज्ञाता द्रष्टा स्वरूप है उसीमें लीन रहता है। जैसे जलमें पंकके सम्बन्धसे मलिनता रहती है, यदि पंकका सम्बन्ध उससे पृथक हो जावे तब जल स्वय निर्मल हो जाता है। तदुक्तं-- 'पंकापाये जलस्य निर्मलतावत्।' निर्मलताके लिये हमें पंकको पृथक करनेकी आवश्यकता है अथवा जैसे जलका स्वभाव शीत है, अग्निके सम्बन्धसे, जलमें उष्ण पर्याय हो जाती है, उस समय जल देखा जावे तो उष्ण ही है। यदि कोई मनुष्य जलको शीत स्वभाव मान कर पान करजावे तब वह नियमसे दाह भावको प्राप्त होजावेगा। अतएव जलको शीत करनेके वास्ते आवश्यकता इस बातकी है कि उसको किसी दूसरे वर्तनमें डालकर उसकी उष्णता पृथक कर दी जाय, इसी प्रकार आत्मामें मोहोदयसे जो रागादि परिणाम होते हैं वे विकृत भाव हैं। उनके न होनेका यही उपाय है जो वर्तमानमें रागादिक हों उनमें उपादेयताका भाव त्यागे, यही आगामी न होनेमें मुख्य उपाय है। जिनके यह अभ्यास होजाता है उनकी परिणति सन्तोषमयी होजाती है। उनका जीवन शान्तिमय बीतता है, उनके एक बार ही पर-पदार्थोंसे निजत्व बुद्धि मिट जाती है। और जब परमें निजत्वकी कल्पना मिट जाती है तब सुतरां रागद्वेष नहीं होते। जहां आत्मामें रागद्वेष नहीं होते वहीं पूर्ण अहिंसाका उदय होता है। अहिंसा ही मोक्ष-मार्ग है। वह आत्मा फिर आगामी अनन्त काल तक जिस रूपसे परिणम गया, उसी रूप रहता है। जिन भगवान्ने यही

संकल्प कल्पतरु से कुछ आने जाने का है। सच्ची शान्ति प्राप्त करनेके लिये रागादिक भावोंको हटाना पड़ेगा क्योंकि शान्ति का वैभव रागादिक भावोंके अभावमें ही निहित है।

३७. केवल वचनोंकी चतुरतासे शान्तिलाभ चाहना मिश्री की कथा से मीठा स्वाद लेने जैसा प्रयास है।

३८. अनेक महानुभावों ने बड़े बडे तीर्थाटन किये, पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा कराई, मन्दिर निर्माण किये, षोडशकारण, दशलक्षण और अष्टाह्निका व्रत किये, बडी बड़ी आयोजना करके उन व्रतों के उद्यापन किये, परन्तु इन्हे शान्ति की गन्ध भी न मिली। अनेक महाशयोंने महान् महान् आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया, प्रतिवादी मत्त मतङ्गजों का मान मर्दन किया, अपने पाण्डित्य के प्रताप से महापण्डितों की श्रेणीमें नाम लिखाया, तो भी उनकी आत्मा में शान्तिसमुद्र की शीतलता ने स्पर्श नहीं किया। उसी प्रकार अनेक गृहस्थ गृहवास त्यागकर दिगम्बरी दीक्षा के पात्र हुये तथा अध्ययन अध्यापन आचरणादि समस्त क्रिया कर तपस्वियों में श्रेष्ठ कहलाये जिनकी कायसौम्यता और वचन पटुता से अनेक महानुभाव संसार से मुक्त हो गये परन्तु उनके ऊपर शान्तिप्रिया मुक्तिलक्ष्मी का कटाक्षपात भी न हुआ। इससे सिद्ध है कि शान्ति का मार्ग न वचन मे है न काय में है और न मनोव्यापार में है। वास्तव मे वह अपूर्व रस केवल आत्म-द्रव्य की सत्य भावना के उत्कर्ष ही से मिलता है।

३९ सर्व सङ्गति को छोड़कर एक स्वात्मोन्नति करो, वही शान्ति की जड़ है।

४० ध्यान करते समय जितनी शान्ति रहेगी, उतनी ही जल्दी संसार का नाश होगा।

४१. संसार में शान्ति के अर्थ अनेक उपाय करो, परन्तु जब तक अज्ञानता है, शान्ति नहीं मिल सकती।

४२. संसार में जितने कार्य देखे जाते हैं, सब कषाय भाव के हैं। इसके अभाव का जो कार्य है वही हमारा निज रूप है, शान्तिकारक है।

४३. शान्ति से ही आनन्द मिलेगा। अशान्ति का कारण मूर्छा है और मूर्छा का कारण बाह्य परिग्रह है। जब तक इन बाह्य कारणों से न बचोगे, शान्ति का मार्ग कठिन है।

४४. शान्ति के कारण सर्वत्र हैं, परन्तु मोही जीव कहीं भी रहे उनके लाभ से वञ्चित रहता है।

४५. शान्ति का लाभ अशान्तिके आभ्यन्तर बीज को नाश करने से होता है।

४६. संसार मे कहीं शान्ति न हो सो बात नहीं। शान्ति का मार्ग अन्यथा मानने से ही संसार में अशान्ति फैलती है। यथार्थ प्रत्यय के बिना साधु भी अशान्त रहता है।

४७. ममता के त्याग बिना समता नहीं, और समता के बिना तामस भाव का अभाव नहीं। जब तक आत्मा मे कलुपता का कारण यह भाव है तब तक शान्ति मिलना असम्भव है।

कल्याण का मार्ग

१. जिन कार्यों के करने से सक्लेश होता है उन्हें छोड़ने का प्रयास करो, यही कल्याण का मार्ग है।

२. कल्याण का उदय केवल लिखने, पढ़ने या घर छोड़ने से नहीं होगा अपितु स्वाध्याय करने और विषयों से विरक्त रहने से होगा।

३. कल्याण के पथ पर बाह्य कारणों की आवश्यकता नहीं। कालादिक जो उदासीन निमित्त है वे तो शुद्ध तथा अशुद्ध दोनों की प्राप्ति में समान रूप से कारण हैं, चरम शरी-रादिक सब उपचार से कारण हैं। अतः मुख्यतया एकत्व परिणत आत्मा ही संसार और मोक्ष का प्रधान कारण है।

४. श्रद्धापूर्वक पर्याय के अनुकूल यथाशक्ति निवृत्ति मार्ग पर चलना ही कल्याण का मार्ग है।

५. कल्याण का मार्ग बाह्य त्याग से परे है और वह आत्मानुभवगम्य है।

६. कल्याण का पथ बातों से नहीं मिलता; कषायों के सम्यक् निग्रह से ही मिलेगा।

७. यदि हमको स्वतन्त्रता रुचने लगी तब समझना चाहिये अब हमारा कल्याण का मार्ग दूर नहीं।

८. कल्याण पथ का पथिक वही जीव हो सकता है जिसे आत्मज्ञान हो गया है।

९. इस भव मे वही जीव आत्मकल्याण करने का अधिकारी है जो पराधीनता का त्याग करेगा, अन्तरङ्ग से अपने ही में अपनी विभूति को देखेगा।

१०. निरन्तर शुद्ध पदार्थ के चिन्तवन में अपना काल बिताओ, यही कल्याण का अनुपम मार्ग है।

११. स्वरूप की स्थिरता ही कल्याण की खानि है।

१२. आडम्बरशून्य धर्म ही कल्याण का मार्ग है।

१३. कल्याण की जननी अन्य द्रव्य को उपासना नहीं केवल स्वात्मा की उपासना ही उसकी जन्म भूमि है।

१४. कहीं (तीर्थयात्रादि करने) जाओ परन्तु कल्याण तो भीतरी मूर्छा की ग्रन्थि के भेदन से ही होगा और वह स्वयं भेदन करनी पड़ेगी

१५ तत्त्वज्ञानपूर्वक रागद्वेष की निवृत्ति ही आत्मकल्याण का सहज साधन है

१६. अपने परिणामों के सुधार से ही सबका भला होगा।

१७. परपदार्थ व्यग्रता का कारण नहीं, हमारी दृष्टि ही व्यग्रता का कारण है, उसे हटाओ। उसके हटाने से हर स्थान तीर्थक्षेत्र है, विश्व शिखरजी है और आत्मा में मोक्ष है।

१८. संसार के सभी सम्प्रदायानुयायी संसार यातना का अन्त करने के लिये नाना युक्तियों, आगम गुरुपरम्परा तथा स्वानुभवों द्वारा उपाय दिखाने का प्रयत्न करते हैं। जो हो हम और आप भी चैतन्यस्वरूप आत्मा हैं, कुछ विचार से काम

लेवें तब अन्त में यही निर्णय सुखकर प्रतीत होगा कि बन्धन से छूटने का मार्ग हम में ही है परपदार्थों से केवल निजत्व हटाना है।

१६. इच्छामात्र आकुलता की जननी है, अतः वह परमानन्द का दर्शन नहीं करा सकती।

२०. कल्याण का मूल कारण मोहपरिणामों की सन्तति का अभाव है। अतः जहां तक बने इन रागादिक परिणामों के जाल से अपनी आत्मा को सुरक्षित रक्खो।

२१. जगत की ओर जो दृष्टि है वह आत्मा की ओर कर दो, यही श्रेयोमार्ग है।

२२. जग से ३६ छत्तीस (सर्वथा पराङ्मुख) और आत्मा से ६३ (सर्वथा अनुकूल) रहो, यही कल्याणकारक है।

२३. मन वचन और काय के साथ जो कषाय की वृत्ति है वही अनर्थ की जड़ है।

२४. सत्पथ के अनुकूल श्रद्धा ही मोक्षमार्ग की आदि जननी है।

२५. कल्याण की प्राप्ति आतुरता से नहीं निराकुलता से होती है।

२६ कल्याण का मार्ग अपने आपको छोड़ अन्यत्र नहीं। जब तक अन्यथा देखने की हमारी प्रकृति रहेगी, तब तक कल्याण का मार्ग मिलना अति दुर्लभ है।

२७. राग द्वेष के कारणों से बचना कल्याण का सच्चा साधन है।

२८. कल्याण का पथ निर्मल अभिप्राय है। इस आत्मा

ने अनादि काल से अपनी सेवा नहीं की केवल पर पदार्थों के संग्रह मे ही अपने प्रिय जीवन को भुला दिया। भगवान अरहन्त का उपदेश है "यदि अपना कल्याण चाहते हो तो पर पदार्थों से आत्मीयता छोड़ो"

२९. अभिप्राय यदि निर्मल है तो बाह्य पदार्थ कल्याण मे बाधक और साधक कुछ भी नहीं हैं। साधक और बाधक तो अपनी ही परिणति है।

३०. कल्याण का मार्ग सन्मति में है अन्यथा मानव धर्म का दुरुपयोग है।

३१. कल्याण के अर्थ ससार की प्रवृत्ति को लक्ष्य न बना कर अपनी मलिनता को हटाने का प्रयत्न करना चाहिये।

३२. अर्जित कर्मों को समता भाव से भोग लेना ही कल्याण के उदय में सहायक है।

३३. निमित्त कारणों के ही ऊपर अपने कल्याण और अकल्याण के मार्ग का निर्माण करना अपनी दृष्टि को हीन करना है। बाहर की ओर देखने से कुछ न होगा आत्मपरिणति को देखो, उसे विकृति से सरक्षित रखो तभी कल्याण के अधिकारी हो सकोगे।

३४. कल्याण का मार्ग आत्मनिर्मलता मे है, बाह्याडम्बर में नहीं। मूर्ति बनाने के योग्य शिला का अस्तित्व सङ्गमर्मर की खानि में होता है मारवाड़ के बालुकापुञ्ज में नहीं।

३५. पर की रक्षा करो परन्तु उस में अपने आपको न भूलो।

३६. वही जीव कल्याण का पात्र होगा जो बुरे चिन्तन से दूर रहेगा।

३७. यदि कल्याण की इच्छा है तो प्रमाद को त्याग कर आत्मस्वरूप का मनन करो।

३८. कल्याण का मार्ग, चाहे वन मे जाओ, चाहे घर मे रहो, आप ही मे निहित है। पर के जानने से कुछ भी कल्याण नहीं होता, अकल्याण का मूल कारण तो मूर्छा है। उसको त्यागने से सभी उपद्रव दूर हो जावेगे। वह जब तक अपना स्थान आत्मा मे बनाये है, आत्मा दुःखी हो रहा है। दुःख बाह्य पदार्थ से नहीं होता अपने अनात्मीय भावों से होता है।

३९. कल्याणार्थियों को चाहिये कि जो भी कार्य करे उसमे अहंबुद्धि और ममबुद्धि का त्याग करें अन्यथा संसार-बन्धन छूटना कठिन है।

४०. अन्याय का धन और इन्द्रियविषय ये दो सुमार्ग के रोड़े हैं।

४१. कल्याण का पथ निरीहवृत्ति है।

४२. संसार मोहरूप है, इसमें ममता न करो। कुटुम्ब की रक्षा करो परन्तु उसमें आसक्त न होओ। जल में कमल की तरह भिन्न रहो, यही गृहस्थी को श्रेयस्कर है।

४३. कल्याण के अर्थ भीषण अटवी में जाने की आवश्यकता नहीं, मूर्छा का अभाव होना चाहिये।

४४. मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो जीव आत्मकल्याण को चाहते है वे अवश्य उसके पात्र होते है।

४५. अनादि मोह के वशीभूत होकर हमने निज को चीना ही नहीं, तब कल्याण किसका ? इस पर्याय मे इतनी योग्यता

स्वाध्याय

१. स्वाध्याय संसार से पार करने को नौका के समान है, कषाय अटवी को दग्ध करने के लिये दावानल है, स्वानुभव समुद्र की वृद्धि के लिये पूर्णिमा का चन्द्र है, भव्य कमल विकसित करने के लिये भानु है, और पाप उलूक को छिपाने के लिये प्रचण्ड मार्तण्ड है।

२. स्वाध्याय ही परम तप है, कषाय निग्रह का मूल कारण है, ध्यान का मुख्य अङ्ग है, शुक्ल ध्यान का हेतु है, भेद ज्ञान के लिये रामवाण है, विषयों में अरुचि कराने के लिये मलेरिया सदृश है, आत्मगुणोंका संग्रह करने के लिये राजा तुल्य है।

३. सत्समागम से भी स्वाध्याय विशेष हितकर है। सत्स॰ मागम आस्रव का कारण है जबकि स्वाध्याय स्वात्माभिमुख होनेका प्रथम उपाय है। सत्समागम से प्रकृति विरुद्ध भी मनुष्य मिल जाते हैं परन्तु स्वाध्याय में इसकी भी सम्भावना नहीं, अतः स्वाध्याय की समानता रखनेवाला अन्य कोई नहीं।

४. स्वाध्याय की अवहेलना करने से ही हम दैन्यवृत्ति के पात्र और तिरस्कार के भाजन हुए हैं।

५. कल्याण के मार्ग में स्वाध्याय प्रधान सहकारी कारण है

६. स्वाध्याय से उत्कृष्ट और कोई तप नहीं।

७. स्वाध्याय आत्म-शान्ति के लिये है, केवल ज्ञानार्जन के लिये नहीं। ज्ञानार्जन के लिये तो विद्याध्ययन है। स्वाध्याय तप है। इससे संवर और निर्जरा होती है।

८. स्वाध्याय का फल निर्जरा है, क्योंकि यह अन्तरङ्ग तप है। जिनका उपयोग स्वाध्याय में लगता है वे नियम से सम्यग्दृष्टि हैं।

९. आगमाभ्यास ही मोक्षमार्ग में प्रधान कारण है। वह होकर भी यदि अन्तरात्मा से विपरीताभिप्राय न गया तब वह आगमाभ्यास अन्धे के लिये दीपक की तरह व्यर्थ है।

१०. शास्त्राध्ययन में उपयुक्त आत्मा कर्म-बन्धन से शीघ्र मुक्त होता है।

११. सम्यग्ज्ञान का उदय उसी आत्मा के होता है जिसका आत्मा मिथ्यात्व कलङ्क कालिमा से निर्मुक्त हो जाता है। वह कालिमा उसी की दूर होती है जो अपने को तत्त्व भावनामय बनाने के लिये सदा स्वाध्याय करता है।

१२. शारीरिक व्याधियों की चिकित्सा डाक्टर और वैद्य कर सकते हैं लेकिन सांसारिक व्याधियों की रामबाण चिकित्सा केवल श्री वीतराग भगवान की विशुद्ध वाणी ही कर सकती है।

१३. स्वाध्याय का मर्म जानकर आकुलता नहीं होनी चाहिए। आकुलता मोक्षमार्ग में साधक नहीं, साधक तो निराकुलता है।

१४ स्वाध्याय परम तप है।

१५. मनुष्य को हितकारिणी शिक्षा आगम से मिल सकती है या उसके ज्ञाता किसी स्वाध्यायप्रेमी के सम्पर्क से मिल सकती है।

१६. तात्त्विक विचार की यही महिमा है कि यथार्थ मार्ग पर चले।

१७. एक वस्तु का दूसरी वस्तु से तादात्म्य नहीं। पदार्थ की कथा छोडो, एक गुण का अन्य गुण से और एक पर्याय का अन्य पर्याय से कोई सम्बन्ध नहीं। इतना जानते हुये भी पर के विभावों द्वारा की गई स्तुति निन्दा पर हर्ष विषाद करना सिद्धान्त पर अविश्वास करने के तुल्य है।

१८. जो सिद्धान्तवेत्ता हैं वे अपथ पर नहीं जाते। सिद्धान्तवेत्ता वही कहलाते हैं जिन्हें स्वपर ज्ञान है। तथा वे ही सच्चे वीर और आत्मसेवी हैं।

१९. शास्त्रज्ञान और बात है और भेदज्ञान और बात है। त्याग भेदज्ञान से भी भिन्न वस्तु है। उसके बिना पारमार्थिक लाभ होना कठिन है।

२०. कल्याण के इच्छुक हो तो एक घंटा नियम से स्वाध्याय में लगाओ।

२१. काल के अनुसार भले ही सब कारण विरुद्ध मिलें फिर भी स्वाध्यायप्रेमी तत्त्वज्ञानी के परिणामों में सदा शान्ति रहती है। क्योंकि आत्मा स्वभाव से शान्त है, वह केवल कर्म कलङ्क द्वारा अशान्त हो जाता है। जिस तत्त्वज्ञानी जीव के अनन्त संसार का कारण कर्म शान्त हो गया है वह संसार के वास्तविक स्वरूप को जानकर न तो किसी का कर्ता बनता है और न भोक्ता ही होता है, निरन्तर ज्ञानचेतना का जो फल है उसका

पात्र रहता है। उपयोग उसका कहीं रहे परन्तु वासना इतनी निर्मल है कि अनन्त संसार का उच्छेद उसके हो ही जाता है। निरन्तर अपने को निर्मल रखिये, स्वाध्याय कीजिये, यही संसारबन्धन से मुक्ति का कारण है।

२२. यदि वर्तमान में आप वीतरागता की अविनाभाविनी शान्ति चाहें तब असम्भव है, क्यों कि इस काल में परम वीतरागताकी प्राप्ति होना दुर्लभ है। अतः जहां तक बने स्वाध्याय व तत्त्वचर्चा कीजिए।

२३. उपयोग की स्थिरता में स्वाध्याय मुख्य हेतु है। इसी से इसका अन्तरङ्ग तप में समावेश किया गया है। तथा यह संवर और निर्जरा का भी कारण है। श्रेणी में अल्प से अल्प आठ प्रवचन मातृका का ज्ञान अवश्य होता है। अवधि और मनःपर्यय से भी श्रुतज्ञान महोपकारी है। यथार्थ पदार्थ का ज्ञान इसके ही बल से होता है। अतः सब उपायों से इसकी वृद्धि करना यही मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है।

२४. जिस तरह व्यापार का प्रयोजन आर्थिक लाभ है उसी तरह स्वाध्याय का प्रयोजन शान्तिलाभ है।

२५. अन्तरङ्ग के परिणामों पर दृष्टिपात करने से आत्मा की विभाव परिणति का पता चलता है। आत्मा परपदार्थों की लिप्सा से निरन्तर दुखी हो रहा है, आना जाना कुछ भी नहीं। केवल कल्पनाओं के जाल में फंसा हुआ अपनी सुध में बेसुध हो रहा है। जाल भी अपना ही दोष है। एक आगम ही शरण है यही आगम पंचपरमेष्ठी का स्मरण कराके विभाव से आत्मा की रक्षा करनेवाला है।

२६, स्वाध्याय तप के अवसर में, जो प्रतिदिन का कार्य है, यह ध्यान नहीं रहता कि यह कार्य उच्चतम है।

२७ स्वाध्याय करते समय जितनी भी निर्मलता हो सके करनी चाहिये।

२८, स्वाध्याय से बढ़कर अन्य तप नहीं। यह तप उन्हीं के हो सकता है जिनके कषायों का क्षयोपशम हो गया है। क्योंकि बन्धन का कारण कषाय हैं। कषायका क्षयोपशम हुए बिना स्वाध्याय नहीं हो सकता, केवल ज्ञानार्जन हो सकता है।

२९, स्वाध्याय का फल रागादिकों का उपशम है। यदि तीव्रोदय से उपशम न भी हो तब मन्दता तो अवश्य हो जाती है। मन्दता भी न हो तब विवेक अवश्य हो जाती है। यदि विवेक भी न हो तब तो स्वाध्याय करनेवाले न जाने और कौन सा लाभ ले सकेंगे? जो मनुष्य अपनी राग प्रवृत्ति को निरन्तर अवनत कर तात्त्विक सुधार करने का प्रयत्न करता है वही इस व्यवहार धर्म से लाभ उठा सकता है। जो केवल ऊपरी दृष्टि से शुभोपयोग में ही संतोष कर लेते हैं वे उस पारमार्थिक लाभ से वंचित रहते हैं।

३०, सानन्द स्वाध्याय कीजिये, परन्तु उसके फलस्वरूप रागादि मूर्छा की न्यूनता पर निरन्तर दृष्टि रखिये।

३१. आगम ज्ञान का इतना ही मुख्य फल है कि हमे वस्तुस्वरूप का परिचय हो जावे।

३२, शास्त्र ज्ञान का यही अभिप्राय है कि अपने को पर से भिन्न समझा जावे। जब मनुष्य नाना प्रयत्नों में उलझ जाता है तब वह लक्ष्य से दूर हो जाता है। वैसे तो उपाय अनेक हैं पर जिससे रागद्वेष की शृङ्खला टूट जावे और आत्मा केवल

ज्ञाता द्रष्टा बना रहे, वह उपाय स्वाध्याय ही है। निरन्तर मूर्च्छा के बाह्य कारणों से अपने को रक्षित रखते हुए अपनी मनोभा-वना को पवित्र बनाने के लिए शास्त्र स्वाध्याय जैसे प्रमुख साधन को अवलम्बन बनाओ।

३३. शास्त्र स्वाध्याय से ज्ञान का विकास होता है और जिनके अभिप्राय विशुद्ध हैं उनके यथार्थ तत्त्वों का बोध होता है।

३४. इस काल में स्वाध्याय से ही कल्याण मार्ग की प्राप्ति सुलभ है।

३५. स्वाध्याय को तपमें ग्रहण किया है अतः स्वाध्याय केवल ज्ञान का ही उत्पादक नहीं किन्तु चारित्र का भी अङ्ग है।

ब्रह्मचर्य

१. ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ-"आत्मा मे रमण करना है।" परन्तु आत्मा मे आत्मा का रमण तभी हो सकता है जबकि चित्तवृत्ति विषय वासनाओं से निर्लिप्त हो, विषयाशा से रहित होकर एकाग्र हो। इस अवस्था का प्रधान साधक वीर्य का संरक्षण है अतः वीर्यका संरक्षण ही ब्रह्मचर्य है।

२. आत्मशक्ति का नाम वीर्य है, इसे सत्व भी कहते हैं। जिस मनुष्य के शरीर में वीर्य शक्ति नहीं वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं बल्कि लोक मे उसे नपुंसक कहा जाता है।

३. आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार शरीर मे सप्त धातुएं होती हैं—१ रस २ रक्त, ३ मांस, ४ मेदा, ५ हड्डी, ६ मज्जा और ७ वीर्य। इनका उत्पत्तिक्रम रस से रक्त, रक्त से मास मांस से मेदा, मेदा से हड्डी, हड्डी से मज्जा और मज्जासे वीर्य बनता है। इस उत्पत्ति क्रमसे स्पष्ट है कि छटवीं मज्जा धातु से बनने वाली सातवीं शुद्ध धातु वीर्य है। अच्छा स्वस्थ मनुष्य जो आधा सेर भोजन प्रतिदिन अच्छी तरह हजम कर सकता है वही ८० दिन मे ४० सेर याने एक मन अनाज खाने पर केवल एक तोला शुद्ध धातु वीर्य का सञ्चय कर सकता है। इस हिसाब से एक दिन का सञ्चय केवल १। सवा रत्ती से कुछ कम ही पड़ता है। इसीलिये यह कहा जाता है कि हमारे शरीर

में वीर्य शक्ति ही सर्व श्रेष्ठ शक्ति है, वही हमारे शरीर का राजा है। जिस तरह राजा के बिना राज्य मे नाना प्रकार के अन्याय मार्गों का प्रसार होने से राज्य निरर्थक हो जाता है उसी तरह इस शरीर में इस वीर्य शक्ति के बिना शरीर निस्तेज हो जाता है, नाना प्रकार के रोगों का आराम गृह बन जाता है। अतः इस अमूल्य शक्ति के संरक्षण की ओर जिनका ध्यान नहीं वे न तो लौकिक कार्य करने में समर्थ हो सकते हैं और न पारमार्थिक कार्य करने मे समर्थ हो सकते है।

४. ब्रह्मचर्य संरक्षण के लिए न केवल विषय भोग का निरोध आवश्यक है अपि तु तद्विषयक वासनाओं और साधन सामग्री का निरोध भी आवश्यक है। १ अपने राग के विषय भूत स्त्री पुरुष का स्मरण करना, २ उनके गुणों की प्रशंसा करना, ३ साथ में खेलना, ४ विशेष अभिप्रायसे देखना, ५ लुक छिपकर एकान्त मे वार्तालाप करना, ६ विषय सेवन का विचार और ७ तद्विषयक अध्यवसाय ब्रह्मचर्य के घातक होने से विषय सेवन के सदृश ही है। इसीलिये आचार्यों ने ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को स्त्रियों के सम्पर्क से दूर रहने का आदेश दिया है। यहां तक कि स्त्री समागम को ही संसार-वृद्धि का मूल करण कहा है क्योंकि स्त्री-समागम होते ही पांचों इन्द्रियों के विषय स्वयमेव पुष्ट होने लगते हैं। प्रथम तो उसके रूप को निरंतर देखने की अभिलाषा बनी रहती है। वह निरंतर सुन्दर रूप वाली बनी रहे, इसके लिये अनेक प्रकार के उपटन, तेल आदि पदार्थों के संग्रह मे व्यस्त रहता है। उसका शरीर पसेव आदि से दुर्गन्धित न हो जाय, अतः निरंतर चन्दन, तेल इत्र आदि बहुमूल्य वस्तुओं का संग्रह कर उस पुतली की सम्हाल मे संलग्न रहता है। उसके केश निरंतर लंबायमान रहे अतः

उनके लिये नाना प्रकार के गुलाब, चमेली, केवड़ा आदि तेलों का सग्रह करता है तथा उसके सरस कोमल, मधुर शब्दों का श्रवण कर अपने को धन्य मानता है और उसके द्वारा संपन्न नाना प्रकार के रसास्वाद को लेता हुआ फूला नहीं समाता है। उसके कोमल अगोंको स्पर्श कर आत्मीय ब्रह्मचर्य का और बाह्य मे शरीर-सौंदर्य का कारण वीर्य का पात होते हुए भी अपने को धन्य मानता है! इस प्रकार स्त्रीसमागम से ये मोही पचेन्द्रियों के विषय में मकड़ों के जाल की तरह फंस जाते हैं। इसीलिये ब्रह्मचर्य को असिधारा व्रत, महान् धर्म और महान् तप कहा है।

५. धर्म साधन का प्रधान साधन स्वस्थ शरीर कहा गया है इसलिये ही नहीं अपितु जीवन के संरक्षण और उसके आदर्श निर्माण के लिये भी जो १ शान्ति, २ कान्ति, ३ स्मृति, ४ ज्ञान ५ निरोगिता जैसे गुण आवश्यक हैं उनकी प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य का पालन नितान्तावश्यक है।

६. यह कहते हुए लज्जा आती है, हृदय दुःख से द्रवीभूत हो जाता है कि जिस अद्भुत वीर्य शक्ति के द्वारा हमारे पूर्वजों ने लौकिक और पारमार्थिक कार्य कर संसार के संरक्षण का भार उठाया था आजकल उस अमूल्य शक्ति का बहुत ही निर्विचार के साथ ध्वंस किया जा रहा है। आजसे १००० वर्ष पहिले इसकी रक्षा का बहुत ही सुगम उपाय था-ब्रह्मचर्य को पालन करते हुए बालक गण गुरुकुलों में वास कर विद्योपार्जन करते थे। आज की तरह उन दिनों चमक दमक प्रधान विद्यालय न थे और न आज जैसा यह वातावरण ही था। उन्नति का जहां तक प्रश्न है प्रगतिशीलता साधक है परन्तु वह प्रगति शीलता खटकने वाली है जिससे राग की वृद्धि और आत्माका

घात होता हो। माना कि आजकल के विद्यालयों में वैसे शिक्षक नहीं जिनके अवलोकन मात्रासे शान्ति की उद्भूति हो ! छात्रों पर वह पुत्रप्रेम नहीं जिसके कारण छात्रों मे गुरु आदेश पर मिटने की भावना हो। और न छात्रों मे वह गुरुभक्ति है जिसके नाम पर विद्यार्थी असंभव को संभव कर दिखाते थे। इसका कारण यही था कि पहले के गुरु छात्रों को अपना पुत्र ही समझते थे अपने पुत्र के उज्वल भविष्य निर्माण के लिये जिन संस्कारों और जिस शिक्षा की आवश्यकता समझते थे वही अपने शिष्यों के लिये भी करते थे। परन्तु अब तो पांसे उलटे ही पड़ने लगे हैं ! अन्य बातोंको जाने दीजिये शिक्षा मे भी पक्षपात होने लगा ! गुरु जी अपने सुपुत्रों को अंग्रेजी पढाना हितकर समझते हैं तब (दूसरों के लड़कों) अपने शिष्यों को संस्कृत पढ़ाते है ! भले ही संस्कृत आत्मकल्याण और उभय लोक में सुखकारी है परन्तु इस विषम वातावरण से उस आदर्श सस्कृत भाषा और उन अतीत के आदर्शों पर छात्रों की अश्रद्धा होती जाती है जिनसे वे अपने को योग्य बना सकते हैं। आवश्यक यह है कि गुरु शिष्य पुनः अपने कर्तव्यों का पालन करें जिससे प्रगति शील युग मे उन आदर्शों की भी प्रगति हो विद्यालयों के विशाल प्राङ्गणों में ब्रह्मचारी बालक खेलते कूदते नजर आवें और गुरु वर्ग उनके जीवन निर्माता और सच्चे शुभचिन्तक बने।

७. ब्रह्मचर्य साधन के लिये व्यायाम द्वारा शरीर के प्रत्येक अङ्ग को पुष्ट और संगठित बनाना चाहिये। सादा भोजन और व्यायाम से शरीर ऐसा पुष्ट होता है कि वृद्धावस्था तक सुदृढ़ बना रहता है। जो भोजन हम करते हैं उसे जठराग्नि पचाती है फिर उसका धातु उत्पत्ति क्रमानुसार रसादि परम्परा से वीर्य बनता है। इस तरह वीर्य और जठराग्नि मे परस्पर सम्बन्ध

है—एक दूसरे के सहायक हैं। इन्हीं के आधीन शरीर की रक्षा है, इनकी स्वस्थता में शरीर की स्वस्थता है। प्राचीन समय में इसी अखण्ड ब्रह्मचर्य के बल से मनुष्य बद्धवीर्य ऊर्ध्वरेता कहे जाते थे।

८. जिस शक्तिको छात्र वृन्द अहर्निश अध्ययन कार्य मे लाते हैं वह मेधा शक्ति भी इसी शक्ति के प्रसाद से बलवती रहती है, इसीके बल से अभ्यास अच्छा होता है, इसी के बल से स्मरण शक्ति अद्भुत बनी रहती है। स्वामी अकलङ्कदेव, स्वामी विद्यानन्दि, महाकवि तुलसीदास भक्त सूरदास और पण्डित प्रवर तोडरमल की जो विलक्षण प्रतिभा थी वह इसी शक्ति का वरदान था।

९. आजकल माता पिता का ध्यान सन्तान के सुसंस्कारो की रक्षा की ओर नहीं है। धनाढ्य से धनाढ्य भी व्यक्ति अपने बच्चों को जितना अन्य आभूषणों से सज्जित एवं अन्य वस्तुओ से सम्पन्न देखने की इच्छा रखते हैं उतना सदाचारादि जैसे गुणोंसे विभूषित और शील जैसी सम्पत्ति से सम्पन्न देखने की इच्छा नहीं रखते। प्रत्युत उसके विरुद्ध ही शिक्षा दिलाते हैं जिससे कि सुकुमार-मति बालक को सुसंगति की अपेक्षा कुसङ्गति का प्रश्रय मिलता है फलस्वरूप वे दुराचरण के जाल में फँस कर नाना प्रकार की कुत्सित चेष्टाओं द्वारा शरीर की संरक्षण शक्ति का ध्वंस कर देते हैं। दुराचार से हमारा तात्पर्य केवल असदाचरण से नहीं है किन्तु १- आत्मा को विकृत करने वाले नाटकों का देखना, २-कुत्सित गाने सुनना, ३ शृङ्गार वर्धक उपन्यास पढ़ना, ४ बाल विवाह, (छोटे छोटे वर कन्या का विवाह) ५ वृद्ध विवाह और ७ अनमेल विवाह (वर

छोटा कन्या बड़ी, या कन्या छोटी वर बड़ा) जैसे समाजिक और वैयक्तिक पतन के कारणों से भी है।

मेरी समझ में इन घृणित दुराचारों को रोकने का सर्व श्रेष्ठ उपाय यही है कि माता पिता अपने बच्चों को सबसे पहिले सदाचार के संस्कार से ही विभूषित करने की प्रतिज्ञा करें। सदाचार एक ऐसा आभूषण है जो न कभी मैला हो सकता है न कभी खो सकता है, व्यक्ति के साथ छाया की तरह सदा साथ रहता है। बालक ही वे युवक होते हैं जो एक दिन पिता का भार ग्रहण कर कुटुम्ब में धर्म परम्परा चलाते हैं, बालक ही वे नेता होते हैं जो समाज का नेतृत्व कर उसे नवीन जीवन और जागृति प्रदान करते हैं, यहां तक कि बालक ही वे महर्षि होते हैं जो जनता को कल्याण पथका प्रदर्शन कर शान्ति और सच्चा सुख प्राप्त कराने में सहायक बनते हैं।

१०. गृहस्थों के संयम में सबसे पहिले इन्द्रिय संयम को कहा है। उसका कारण यही है कि यह इन्द्रियां इतनी प्रबल हैं कि वे आत्मा को हठात् विषय की ओर ले जाती हैं, मनुष्य के ज्ञानादि गुणों को तिरोहित कर देती हैं, स्वीय विषय के साधन निमित्त मन को सहकारी बनाती है, मन को स्वामी के बदले दास बना लेतीं हैं। इन्द्रियों की यह सबलता आत्म-कल्याण में बाधक है। अतः उनका निग्रह अत्यावश्यक है। उपाय यह है कि सर्व प्रथम इन्द्रियों का प्रवृत्ति ही उस ओर न होने दो परन्तु यदि जब कोई इन्द्रिय का समभिधान हो रहा है, कोई प्रतिबन्धक कारण विषय-निवारक नहीं है, और आप उसके ग्रहण करने के लिये तत्पर होगये है तो उसी समय आपका कार्य है कि इन्द्रिय को विषय से हटाओ उसे यह

निश्चय करा दो कि तेरी अपेक्षा मैं ही बलशाली हूँ, तुझे विषय ग्रहण न करने दूंगा। जहां इस पांच अवसरों पर आप ने इस तरह विजय पा ली अपने आप इन्द्रियां आपके मन के अधीन हो जायेंगी। जिस विषय सेवन करने में आपका उद्देश्य काम तृप्त करने का था वह दूर होकर शरीर रक्षा की ओर आपका ध्यान आकर्षित हो जायगा। उस समय आपकी यह दृढ़ भावना होगी कि मेरा स्वभाव तो ज्ञाता द्रष्टा है, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यवाला है। केवल इन कर्मों ने इस प्रकार जकड़ रक्खा है कि मैं निज परिणति को परित्याग कर इन विषयों द्वारा तृप्ति चाहता हूं। यह विषय कदापि तृप्ति करने वाले नहीं। देखने में तो किंपाक सदृश मनोहर प्रतीत होते हैं किन्तु परिपाक में अत्यन्त विरस और दुःख देने वाले हैं। मैं व्यर्थ ही इनके वश होकर नाना दुखों की खानि हो रहा हूं। इस तरह की भावनाओं से जीवन में एक नवीन स्फूर्ति और शुभ भावनाओं का सञ्चार होता है, विषयों की ओर से विरक्ति होकर सुपथ की ओर प्रवृत्ति होती है।

११. जिन उत्तम कुल-शील-धारक प्राणियों ने गृहस्था-वस्था में उदासीन-वृत्ति अवलम्बन कर विषय सेवन किये वे ही महानुभाव उस उदासीनता के बल से इस परम पद के अधिकारी हुए। श्री भरत चक्रवर्ती को अन्तर्मुहूर्त में ही अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी ने सवरण किया वह महनीय पद प्राप्ति इसी भावना का फल है। ऐसे निर्मल पुरुष जो विषय को केवल रोगवत् जान उपचार से औषधिवत् सेवन करते हैं उन्हें यह विषयाशा नागिन कभी नहीं डस सकती।

१२. ससार में जो व्यक्ति काम जैसे शत्रुपर विजय पा लेते हैं वही शूर है। उन्हीं की शुभ भावनाओं के उदयाचल पर उस

अहिंसाका तत्व बताया है—अर्थात् जो आत्माएं रागद्वेष मोह के सद्भावसे मुक्त हो चुकी हैं उन्हींका नाम जिन है। वह कौन है? जिसके यह भाव हो गये वही जिन है। उसने जो कुछ पदार्थका स्वरूप दर्शाया उस अर्थके प्रतिपादक जो शब्द हैं उसे जिनागम कहते है। परमार्थसे देखा जाय तो, जो आत्मा पूर्ण अहिंसक हो जाती है उसके अभिप्रायमें न तो परके उपकारके भाव रहते है और न अनुपकारके भाव रहते हैं। अतः न उनके द्वारा किसीके हितकी चेष्टा होती है और न अहितकी चेष्टा होती है किन्तु जो पूर्वोपाजित कर्म है वह उदयमें आकर अपना रस देता है। उस कालमें उनके शरीरसे जो शब्द वर्गणा निकलती है उससे क्षयोपशम ज्ञानी वस्तु-स्वरूपके जाननेके अर्थ आगम रचना करते हैं।

आज बहुतसे भाई जैनोंके नामसे यह समझते है कि एक जाति विशेष है। यह समझना कहा तक तथ्य है, पाठकगण जाने। वास्तवमें जिसने आत्माके विभाव भावों पर विजय पा ली वही जैन है। यदि नामका जैनी है और उसने मोहादि कलको को नहीं जीता तब वह नाम 'नाम का नैनसुख आँखोंका अन्धा' की तरह है। अतः मोह विकल्पोंको छोड़ो और वास्तविक अहिंसक बनो।

वास्तवमें तो बात यह है कि पदार्थ अनिवचनीय है कोई कह नहीं सकता। आप जब मिसरी खाते हो तब कहते हो मिसरी मीठी होती है-जिस पात्रमें रक्खी है वह नहीं कहता; क्योंकि जड़

है। ज्ञान चेतन है वह जानता है मिसरी मीठी होती है। परन्तु यह भी कथन नहीं बनता; क्योंकि यह सिद्धान्त है कि ज्ञान ज्ञेयमे नहीं जाता और ज्ञेय ज्ञानमें नहीं जाता। फिर जब मिसरी ज्ञानमें गई नहीं तब मिसरी मीठी होती है, यह कैसे शब्द कहा जा सकता है? अथवा जब ज्ञानमें ही पदार्थ नहीं आता तब शब्दसे उसका व्यवहार करना कहा तक न्याय-संगत है। इससे यह तात्पर्य निकला कि मोह परिणामोंसे यह व्यवहार है अर्थात् जब तक मोह है तब तक ज्ञानमे यह कल्पना है। मोहके अभावसे यह सर्व कल्पना विलीन हो जाती है-यह असंगत नहीं। जब तक प्राणीके मोह है तब तक ही यह कल्पना है जो ये मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ और ये मेरी भार्या है मैं इसका पति हूँ। मोहके अभावमे यह सर्व व्यवहार विलीन हो जाते हैं—जब यह आत्मा मोहके फन्देमे रहता है तब नाना कल्पनाओंकी पुष्टि करता है। किसीको हेय और किसीको उपादेय मानकर अपनी प्रवृत्ति बनाकर इतस्ततः भ्रमण करता है। मोहके अभावमें आपसे आप शान्त हो जाता है। विशेष क्या कहूँ, इसका मर्म वे ही जाने जो निर्मोही है अथवा वे ही क्या जानें, उन्हे विकल्प ही नहीं।

२३. सद्भावना में ही शान्ति और सुख निहित है।

२४. पुस्तकादि को पढ़ने से क्या होता है, होने की प्रकृति तो आभ्यन्तर मे है। शान्ति का मार्ग मूर्छा के अभाव में है सद्भाव में नहीं।

२५. जहां शान्ति है वहां मूर्छा नहीं और जहां मूर्छा हैं वहां शान्ति नहीं।

२६. शान्ति अपनी परणतिविशेष है। उसके बाधक कारण जो हमने मान रखे है वे नहीं है किन्तु हम स्वयं ही अपनी विरुद्ध मान्यता द्वारा बाधक कारण बन रहे है। उस विरुद्ध भाव को मिटा दे तो स्वयमेव शान्ति का उदय हो जावेगा।

२७. समाज का कार्य करने में शान्ति का लाभ होना कठिन है। शान्ति तो एकान्तवास मे है। आवश्यकता इस बात की है कि उपयोग अन्यत्र न जावे।

२८. जो स्वयं अशान्त है वह अन्य को क्या शान्ति पहुँचायेगा।

२९. संसार मे यदि शान्ति की अभिलाषा है तब इससे तटस्थ रहना चाहिये। गृहस्थावस्था में परिग्रह बिना शान्ति नहीं मिलती और आगम में परिग्रह को अशान्ति का कारण कहा है, यह विरोध कैसे मिटे? तब आगम ही इसको कहता है कि न्याय पूर्वक परिग्रह का अर्जन दुःखदायी नहीं तथा उसमें आसक्ति का न होना ही शान्ति का कारण है। जहां तक बने द्रव्य का सदुपोग करो, विषयों में रत न होओ।

३०. धार्मिक चर्चा में समय व्यतीत करना शान्ति का परम साधक है।

३१. अशान्ति का उदय जहां होता है और जिससे होता है उन दोनों की ओर दृष्टि दीजिए और अपने आत्मस्वरूप को पहिचानिये, सहज ही झझट दूर करने की कुञ्जी मिल जायगी।

३२. जिस दिन तात्त्विक ज्ञान का उदय होगा; शान्ति का राज्य मिल जायगा। केवल पदार्थों के छोड़ने से शान्ति का मिलना अति कठिन है।

३३ भोजन की कथा से क्षुधानिवृत्ति का उपाय ज्ञात होगा, क्षुधा निवृत्ति नहीं। उसी प्रकार शान्ति के बाधक कारणों को हेय समझने से शान्ति का मार्ग दिखेगा, शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति तो तभी मिलेगी जब उन बाधक कारणों को हटाया जायगा।।

३४. आत्मा स्वभाव से अशान्त नहीं, कर्म कलक के समागम से अशान्त हो रहा है। कर्म कलङ्क के अभाव में स्वयं शान्त हो जाता है।

३५. आत्मा एक ऐसा पदार्थ है जो पर के सम्बन्ध से 'मंसारी' और पर के सम्बन्ध के बिना मुक्त ऐसे दो प्रकार के भाव को प्राप्त हो जाता है। पर का सम्बन्ध करनेवाले और न करनेवाले हम ही है। अनादि काल से विभाव शक्ति के विचित्र परिणमन से हम नाना पर्यायों में भ्रमण करते हुए स्वयं नाना प्रकार के दु'खों के पात्र हो रहे हैं। जिस समय हम ज्ञायकभाव मे होनेवाले विकृत भाव की हेयता को जानकर उसे पृथक् करने का भाव करेगे उसी क्षण शान्ति के पथ पर पहुच जावेगे।

३६. पदार्थ को जानने का यही तो फल है कि आत्मा को शान्ति मिले। परन्तु वह शान्ति ज्ञान से नहीं मिलती, न इस प्रवृत्ति रूप व्रतादिकों से ही उसका आविर्भाव होता है, और न

दिव्य ज्योति तीर्थंकर सूर्य का उदय होता है जिसके उदय होते ही अनादिकालीन मिथ्यान्धकार ध्वस हो जाता है।

१३. ब्रह्मचर्य एक ऐसा व्रत है जिसके पालने से सम्पूर्ण व्रतों का समावेश उसी मे हो जाता है तथा सभी प्रकार के पापों का त्याग भी उसी व्रत के पालने से हो जाता है। विचार कर देखिये जब स्त्री सम्बन्धी राग घट जाता है तब अन्य परिग्रहोंसे सहज ही अनुराग घट जाता है क्यों कि, वास्तव मे स्त्री ही घर है, घास फूस, मिट्टी चूना आदि का बना हुआ घर घर नहीं कहलाता। अतः इसके अनुराग घटाने से शरीर के श्रृङ्गारादि अनुराग स्वयं घट जाते है। माता पिता आदि से स्नेह स्वय छूट जाता है। द्रव्यादि की वह ममता भी स्वयमेव छूट जाती है जिसके कारण गृहबन्धन से छूटने मे असमर्थ भी स्वयंमेव विरक्त होकर दैगम्बरी दीक्षा का अवलम्बन कर मोक्षमार्ग का पथिक बन जाता है।

१४ ब्रह्मचर्य साधक व्यवस्था मे मुख्यतया इन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिये—

१. प्रातः ४ बजे उठकर धार्मिक स्तोत्रका पाठ और भग—वन्नामस्मरण करने के अनन्तर ही अन्य पुस्तकों का अध्ययन पर्यटन या गृहकार्य किया जाय।

२. सूर्य निकलने के पहले ही शौचादि से निवृत्त होकर खुले मैदान मे अपनी शारीरिक शक्ति और समयानुसार डंड, बैठक, आसन, प्राणायाम आदि आवश्यक व्यायाम करे।

३. व्यायाम के अनन्तर एक घण्टा विश्रान्ति के उपरान्त ऋतु के अनुसार ठण्डे या गरम जल से अच्छी तरह स्नान करे। स्नान के अनन्तर एक घण्टा देव पूजा और शास्त्र स्वाध्याय आदि धार्मिक कार्य कर दस बजे के पहिले तक का जो समय शेष रहे उसे अध्ययन आदि कार्यों मे लगावे।

४. दस बजे निर्द्वन्द्व होकर शान्तचित्त से भोजन करें। भोजन सादा और सात्विक हो। लाल मिर्च आदि उत्तेजक, रबड़ी मलाई आदि गरिष्ठ एवं अन्य किसी भी तरह के चटपटे पदार्थ न हों।

५. भोजन के बाद आधे घण्टे तक या तो खुली हवा मे पर्यटन करे या पत्रावलोकन आदि ऐसा मानसिक परिश्रम करे जिसका भार मस्तिष्क पर न पड़े। बाद में अपने अध्यय-नादि कार्य मे प्रवृत्त हों।

६. सायंकाल चार बजे अन्य कार्यों से स्वतन्त्र होकर शौचादि दैनिक क्रिया से निवृत्त होने के पश्चात् ऋतु के अनु-सार पाच या साढ़े पाच बजे तक सूर्यास्त के पहिले पहिले भोजन करे।

७. भोजन के पश्चात् एक घण्टे खुली हवा मे पर्यटन करे तदनन्तर दस बजे तक अध्ययनादि कार्य करे।

८. दस बजे सोने के पूर्व ठण्डे जल से घुटनों तक पैर और ऋतु अनुकूल हो तो शिर भी धोकर स्तोत्र पाठ या भगवन्नामस्मरण करके शयन करे।

६. सदा अपने कार्य से कार्य रखे व्यर्थ विवाद में न पड़े।

१०. अपने समय का एक एक क्षण अमूल्य समझ उसका सदुपयोग करे।

११ मनोवृत्ति दूषक साहित्य, नाटक, सिनेमा आदि से दूर रहे

१२. दूसरों की मां बहिनों को अपनी मां बहिन समझे।

१३. "सत्संगति और विनय जीवन की सफलता का अमोघ मन्त्र है" इसे कभी न भूले।

अवतरण पद्यानुक्रम

पृष्ठ

१ अपराधिनि चेत् क्रोधः — ८५
२ अप्रादुर्भाव: खलु — ४६१
३ अयं निजः परो वेति — ७०
४ अरिमित्र महल मसान कंचन — १२६
५ आतमके अहित विषय कषाय — १११
६ इति स्तुतिं देव विधाय दैन्यात् — ४
७ कर्मण्येवाधिकारस्ते — १०८
८ चिन्मूरति दृगधारीकी मोहि — ६४
९ जो जम्हि गुणो दव्वे — १०५
१० तव पादौ मम हृदये — २८
११ तिलतैलमेव मिष्टं — ३०
१२ दर्शनज्ञानचारित्र — ९९
१३ न रागान्न स्तोत्रं भवति — १२४
१४ न सामान्यात्मनोदेति — ११५
१५ परमाणुमित्तय पिहु — ९८
१६ पंडित मूरख दो जनें — १२
१७ पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा — ८९
१८ बलवानिन्द्रियग्रामो — २३
१९ मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः — १३१